रजिस्ट्रेशन नं. RAJSAN/2015/61410

स्वाध्याय शिक्षा

(प्राकृत, संस्कृत एवं हिन्दी भाषा में शास्त्रीय ज्ञानवृद्धि की प्रेरक पुस्तक)

आगम अनुप्रेक्षा–स्थानाङ्गसूत्र अंक

परस्परोपग्रहो जीवानाम्

प्रकाशक
श्री स्थानकवासी जैन स्वाध्याय संघ, जोधपुर

स्वाध्याय शिक्षा

(प्राकृत, संस्कृत एवं हिन्दी भाषा में शास्त्रीय ज्ञानवृद्धि की प्रेरक पुस्तक)

वर्ष-37 अंक-1 15 जनवरी, 2022

प्रधान सम्पादक

प्रकाशचन्द जैन

कार्यकारी सम्पादक

त्रिलोकचन्द जैन

जिनेन्द्र कुमार जैन

सम्पादकीय सम्पर्क सूत्र

आध्यात्मिक शिक्षा समिति

ए-9, महावीर उद्यान पथ, बजाज नगर, जयपुर-302015

फोन 0141-2711910, 7045747164, 9694430826, 9887268051

Email : assjaipur108@gmail.com

प्रकाशक

श्री स्थानकवासी जैन स्वाध्याय संघ

(संचालक-गजेन्द्र निधि)

सामायिक स्वाध्याय भवन, प्लॉट नं. 2, नेहरू पार्क, जोधपुर-342001

फोन 0291-2624891

Email : swadhyaysanghjodhpur@gmail.com

शुल्क/साभार का चैक/डी.डी./नेफ्ट/नकद राशि **'श्री स्थानकवासी जैन स्वाध्याय संघ'** बैंक खाता संख्या **PNB** 00592010003010 **IFSCC Code** PUNB0005910 में जमा कराकर जमापर्ची (काउण्टर-प्रति) को प्रकाशक पते पर भिजवावें।

इस प्रति का मूल्य : 10/- आजीवन सदस्यता शुल्क 20 वर्ष : 1000/-

सृजन संचयन श्रुत संवर्धन, सत्साहित्य समीक्षा।
संयम शील संस्कार प्रेरणा, हित स्वाध्याय शिक्षा।।

नोट :-यह आवश्यक नहीं कि लेखकों के विचारों से सम्पादक मण्डल की सहमति हो।

विषयानुक्रमणिका

आगम अनुप्रेक्षा–स्थानाङ्गसूत्र अंक

सम्पादकीय

ठाणांगसूत्र में धर्म : प्रकाशचन्द जैन 3

प्राकृत खण्ड

उसहनाहचरियं (12) : कलिकाल सर्वज्ञ श्री हेमचन्द्राचार्य 5

चउसरण पइण्णा : संकलित 9

संस्कृत खण्ड

हरिश्चन्द्रचरित्रम् : संकलित 12

हिन्दी खण्ड

स्थानाङ्गसूत्र–एक परिचय : आचार्यप्रवर श्री हस्तीमलजी म.सा. 19

स्थानाङ्गसूत्र में स्थविर–एक चिन्तन : उपाध्याय श्री रमेशमुनिजी शास्त्री 25

स्थानाङ्गसूत्र में कलाएँ : श्रद्धेय श्री अशोकमुनिजी म.सा. 29

व्यक्तित्व–विकास हेतु स्थानाङ्गसूत्र के गुर : श्री शान्तिलाल बोहरा 39

स्थानाङ्ग में वर्णित दस धर्म और कर्त्तव्यपालन : डॉ. दिलीप धींग 47

आदर्श जीवन–पद्धति : स्थानाङ्गसूत्र के परिप्रेक्ष्य में : त्रिलोकचन्द जैन 53

स्थानाङ्गसूत्र में आलोचना : श्रीमती विनीता सुराणा 61

स्थानाङ्गसूत्र का महत्त्व : श्री पदमचन्द गाँधी 68

स्थानाङ्गसूत्र में श्रमणोपासक : श्री जितेश कुमार जैन 76

बनें बहुश्रुत स्वाध्यायी (22) : सम्पादक 79

साभार : संकलित 80

सम्पादकीय

ठाणांगसूत्र में धर्म

-प्रकाशचन्द जैन

द्वादशांगी में तृतीय स्थान पर अधिष्ठित ठाणांगसूत्र को जैनधर्म का विश्वकोष कहा जाता है। संख्या के आधार पर तत्त्व ज्ञान का संकलन करने की विशिष्ट शैली में लिखा गया यह सूत्र अपने आप में अद्‌भुत है और वर्तमान में 3770 करीब गाथा प्रमाण उपलब्ध है। इसे तृतीय स्थान पर रखने का एक प्रमुख कारण यह प्रतीत होता है कि आचारांग और सूत्रकृतांग का अध्ययन करके साधक आचार तथा विचार में परिपक्व बनकर स्थिर बुद्धि होकर फिर इसका अध्ययन करे तो वह ज्ञातव्य विषयों की नामावली तथा उनके स्वरूप को सामान्य रूप से समझकर फिर प्रत्येक विषय की व्याख्या अन्य आगमों से प्राप्त कर सकता है।

इस सूत्र में संग्रहनय की दृष्टि से एक-एक तत्त्व की एकता का निरूपण हुआ है तो दूसरी और व्यवहार नय से एक-एक तत्त्व के भेदों का वर्णन हुआ है। यहाँ संख्या की दृष्टि से जीवादि तत्त्वों के भेदों की स्थापना की गई है। पर्याय की अपेक्षा एक ही तत्त्व अनेक भागों में विभक्त हो जाता है तथा द्रव्य की अपेक्षा से अनेक भाग एक तत्त्व में परिगणित हो जाते हैं, इस प्रकार यहाँ भेद-प्रभेद की दृष्टि से व्याख्या की गई है। जीव, पुद्‌गल, इतिहास, खगोल, भूगोल, गणित, दर्शन, आचार, मनोविज्ञान आदि विषय इस सूत्र में संकलित हैं, जिनका संख्या की दृष्टि से वर्णन हुआ है विषय पर विस्तार से चिन्तन नहीं दिखाई देता है।

दुर्गतौ प्रपतन्तम् आत्मानं धारयतीति धर्मः। दुर्गति में गिरते हुए जीवों को जो धारण करता है अर्थात् बचाता है वह धर्म है। इस धर्म को इस सूत्र के विविध स्थानों में रखकर भेदों से बताया गया है। प्रथम स्थान में एगे धम्मे अर्थात् धर्म एक है। यहाँ अभेद प्रधान शैली में कथन है। मोक्ष की ओर प्रयाण करने वाले संवर तथा निर्जरा के सभी उपायों को यहाँ एक धर्म शब्द में सम्मिलित करके कथन किया गया है।

दूसरे स्थान में **धम्मे दुविहे पण्णत्ते-सुयधम्मे चेव चरित्त धम्मे चेव** कहकर धर्म को दो प्रकार से समझाया गया है। एक है श्रुतधर्म अर्थात् विचार धर्म तथा दूसरा है चारित्रधर्म अर्थात् आचार धर्म। इन दोनों के मिलने से धर्म साधना पूर्ण होती है। जिसे सरल शब्दों में स्वाध्याय और सामायिक भी कहा जा सकता है। श्रुतधर्म से एक ओर हमारे विचारों में श्रद्धा सहित ज्ञान की उत्पत्ति होती है तो चारित्रधर्म से जीवन निष्पाप व निर्मल बनता जाता है।

तीसरे स्थान में धर्म को तीन प्रकार से बताया है–**सुयधम्मे चरित्तधम्मे, अत्थिकाय धम्मे।** यहाँ श्रुत, चारित्रधर्म के साथ अस्तिकाय धर्म को भी सम्मिलित कर लिया गया है, इसके साथ धर्म शब्द जुड़ा होने के कारण से। तीसरे स्थान में ही **तिविहे भगवया धम्मे पण्णत्ते–सुअहिज्झिए, सुज्झाइए, सुतवस्सिए।** कहकर धर्म को तीन प्रकार से समझाया गया है–सम्यक्–अध्ययन अर्थात् विधिपूर्वक सूत्र का पठन करना। सम्यक्–ध्यान अर्थात् पठित विषय का अनुप्रेक्षण करना। सम्यक् तप अर्थात् अनुप्रेक्षा किये विषय का आचरण करना। पठन बिना अनुप्रेक्षा अर्थात् ध्यान नहीं होता तथा ध्यान के बिना तप नहीं किया जा सकता। अत: तीनों मिलकर धर्म होता है, ये अभिन्न हैं।

चतुर्थ स्थान में **चत्तारि धम्मदारा पण्णत्ता–तंजहा–खंती, मुत्ती, अज्जवे, मद्दवे।** धर्म के चार द्वार कहे हैं, ये चारों द्वार अलग–अलग हैं। यहाँ चत्तारि दारा–बहुवचन का प्रयोग होने से ये चारों मिलकर धर्म का द्वार नहीं बनते। चारों अलग–अलग द्वार हैं, ऐसा समझा जा सकता है। दूसरे व तीसरे स्थानों में धम्मे दुविहे, तिविहे में एकवचन का प्रयोग होने से दोनों या तीनों मिलकर धर्म कहा है, ऐसा समझा जा सकता है। धर्म में प्रवेश खंती–क्षमा से, मुत्ती–निर्लोभता से, अज्जवे–सरलता से तथा मद्दवे–मृदुता से हो सकता है। अत: इन सद्गुणों को बढ़ाना चाहिए।

दसवें स्थान में–**धम्मे दसविहे पण्णत्ते–तंजहा–गाम धम्मे, नगर धम्मे, रट्ठधम्मे, पासंड धम्मे, कुलधम्मे, गणधम्मे, संघधम्मे, सुयधम्मे, चरित्तधम्मे, अत्थिकाय धम्मे** कहकर दस प्रकार से धर्म कहा गया है। यहाँ धर्म का समग्रता से वर्णन हुआ है। गाँव, नगर तथा राष्ट्र के प्रति अपने कर्त्तव्यों का पालन करना भी धर्म का ही अंग है। पापों का खण्डन करने वाला आचार भी धर्म है। कुल की मर्यादा का पालन, गण तथा संघ की मर्यादा का पालन करना भी धर्म का ही अंग है। श्रुतधर्म और चारित्रधर्म तथा अस्तिकाय में भी धर्म जुड़ा होने से इन सबको मिलाने पर धर्म का पूरा स्वरुप प्रकट होता है अत: यहाँ दस प्रकार से धर्म का कथन हुआ है। इस प्रकार ठाणांगसूत्र एक–एक विषय का संख्या की दृष्टि से विश्लेषण करते हुए कथन करता है।

इस सूत्र का महत्त्व इस तथ्य से भी उजागर होता है कि आचार्य, उपाध्याय, श्रुत स्थविर आदि की पदवी इस सूत्र के अध्ययन बिना प्राप्त नहीं होती है। अत: गुरु भगवन्तों के दिशा–निर्देशन में इस आगम को गहराई से समझने का प्रयास करना चाहिए।

◆

प्राकृत-खण्ड

उसहनाहचरियं (12)

-कलिकाल सर्वज्ञ श्री हेमचन्द्राचार्य

कलिकालसव्वण्णुणा सिरिहेमचंदसूरिणा विरआओ तिसट्ठिसिलाहापुरिसाओ नाम गंथाओ उद्धरियस्स सिरिउसहनाहचरियस्स नाम गंथस्स आधारेण संकलियं इदं चरित्तं।

जुगंधरमुणिस्स केवलनाणं तस्स य उवएसो-

तया तत्थ पव्वयसिहरम्मि एगरत्तिअ-पडिमाधरस्स जुगंधरमहामुणिणो केवलनाणं समुप्पण्णं आसि। अह सण्णिहिअदेवया तस्स मुणिंदस्स केवलनाणमहूसवं आरंभिंसु। पव्वयाऽऽसण्णनयरवासिणो जणा अहमहमिगा-पुव्वयं तत्थ तं महामुणिं वंदिउं निग्गआ। नाणावत्थाऽऽहूसणभूसिअं मुणिवरवंदणाय गच्छंतं जणं दट्ठूणं अइविम्हएण सा निन्नामिगा खणं चित्तलिहियव्व संठिआ, तओ सा परंपराए लोगाऽऽगमणकारणं णच्चा दुक्खभारमिव कट्ठभारं चइत्ता जणेहिं सह चलंती निन्नामिगा तं गिरिं आरोहित्था 'जं तित्थाइं सव्वसाहरणाइं हुंति।' सा महामुणिंदस्स पाए कप्पतरुव्व मण्णमाणा साणंदं वंदेइ 'मई हि गईए अणुसारिणी सिआ।'

युगंधर मुनि को केवलज्ञान और उसको उपदेश-

(जब वह पर्वत शिखर पर पहुँची) उसी समय उस पर्वत के शिखर पर एक रात्रि की प्रतिमाधारी युगन्धर मुनि ने केवलज्ञान प्राप्त किया था। अत: निकटवर्ती देवताओं ने उन मुनि का केवलज्ञान महोत्सव मनाया। पर्वत के निकटवर्ती नगरवासी लोग अत्युत्कण्ठा पूर्वक उन महामुनि को वन्दना करने के लिए निकल गये। विभिन्न प्रकार के वस्त्रालंकारों से भूषित होकर मुनि को वन्दन करने के लिए जाते हुए लोगों को देखकर अति विस्मित सी होती हुई वह निर्नामिका चित्रलिखित की तरह क्षणभर के लिए खड़ी रही। तभी वह निर्नामिका अनुक्रम से (झुण्ड के झुण्ड) लोगों के आगमन का कारण जानकर दु:खभार की भाँति काष्ठ (लकड़ी) के भार को पटककर (छोड़कर) लोगों के साथ चलती हुई उस पर्वत पर चढ़ गई। तीर्थ सर्वसाधारण अर्थात् सबके लिए होते हैं। उन महामुनि के चरणों को कल्पवृक्ष के समान मानते हुए आनन्दपूर्वक (प्रसन्नचित्त से) वन्दना की। कहा भी है-'गति (भाग्य) के अनुरूप ही मति हो जाती है।' अर्थात् 'जैसी मति वैसी गति।'

अह जगजंतुहियावहो सो मुणिवरो लोगं मेहो इव अल्हायंतो गहीराए झुणीए धम्मदेसणं कुणेइ–आमसुत्तनिबद्धपलिअंकाऽहिरोहण–सरिसविसय–सेवणं भवभूमीए निवडणाय सिया, सव्वपाणीणं पुत्त–मित्त–कलत्ताइ–परिवारजोगो एगगामसहाऽऽवा–ससुत्तपहिअजणुवमो, चुलसीईलक्खजोणि–गहणभीसणसंसारे भमंताणं जीवाणं अणंतक्खुत्तो सकम्मपरिणामजणिओ दुहसंभारो संपत्तो, लोगे वालग्गकोडिमित्तं पि तं किंपि ठाणं नत्थि, जत्थ जीवा बहुसो दुक्खपरंपरं न पत्ता।

तत्पश्चात् जगत् जीवों के लिए हितकारी उन महामुनि ने मेघ के समान गम्भीर स्वर में आनन्दकारी धर्मोपदेश दिया–'कच्चे सूत से बने हुए पलंग पर सोने वाला मनुष्य विषय–सेवन करने वाले मनुष्य की तरह संसार रूपी धरती पर गिर पड़ता है। इस भयंकर संसार में सभी प्राणियों के लिए पुत्र, मित्र, स्त्री, परिवार आदि का समागम एक रात्रि के लिए मिले हुए पथिकों के स्नेह समागम की भाँति है। चौरासी लाख योनियों में और गहन भीषण संसार में भ्रमण करते हुए जीवों ने अनन्त बार स्वकर्मानुसार दु:खों के भार को प्राप्त किया है। लोक में बालाग्र मात्र भी ऐसा कोई स्थान नहीं है जहाँ जीव ने बहुत (अनन्त) दु:खों को प्राप्त नहीं किया।

एयं सोच्चा निन्नामिगा अंजलिं काऊण भयवंतं कहेइ–तुम्हे राय–रंकेसुं सुहगदुहगेसुं च सिरिमंतनिद्धणेसु य तुल्लो सिया तेण विण्णविज्जइ–भगवंतेहिं एसो संसारो दुक्खाणं खाणी कहिओ, ता ममाओ अहियतमो इह को वि दुहिओ किं अत्थि?

यह सुनकर निर्नामिका करबद्ध होकर भयभीत होते हुए कहती है–आप राजा और रंक में, सुभग और दुर्भग में तथा धनवान और निर्धन में समान भाव (तुल्यता) वाले हैं। इसलिए आपसे निवेदन है–आप भगवन्त के द्वारा यह संसार दु:खों की खान कहा गया है। तो क्या मुझसे भी अधिक दु:खी इस संसार में और भी कोई है ?

केवली आह–दुहिअमाणिणि भद्दे! निरय–तिरिअगइगयजीवाणं पुरओ तुज्झ केरिसं दुक्खं, अण्णेसिं जीवाणं दुक्खं–सुणाहि–पाणिणो नियकम्मपरिणामेण निरयभूमीए उववज्जिरे, तत्थ जीवा छेयण–भेयणाइवेयणं सहिरे, परमाहम्मिएहिं असुरेहिं के वि जंतेहिं तिलपीसणमिव निपीडिज्जंति, कट्ठं व करवत्तेहिं केवि दारिज्जंति, के वि सूलसेज्जासुं साइज्जंति, के वि सिलायलंमि वत्थमिव अप्फालिज्जंति, के वि लोहपत्ताइं पिय मोग्गरेहिं कुट्टिज्जंति, के वि खंडसो खंडिज्जंति, एवं ते नरगजीवा करुणसरं अक्कंदंता

भुज्जो मिलियंगा तहेव भुज्जो भुज्जो तं चिअ दुहं अणुभाविज्जन्ति, पुणो पिवासिया ते तत्ततउरसं पाइज्जंति, छायत्थिणो अ असिपत्ततरुस्स तलम्मि उवविसाविज्जंति, एवं नरगम्मि नेरइआ पुराकयकम्मं सारिज्ज–माणा मुहुत्तमेत्तं वि वियणं विणा ठाउं न लहंते, वच्छे! नरगगयाणं पाणीणं जं दुक्खं तं सुणाविज्जमाणं पि अवरेसिं दुहाय जायए।

केवली भगवान ने फरमाया–हे दुखियारी बालिका! नरक और तिर्यंच गति में गये हुए जीवों के आगे तुम्हारा दु:ख कैसा है? दूसरे जीवों के दु:खों के विषय में सुन–प्राणी स्वकर्मानुसार नरक भूमि में उत्पन्न होते हैं, वहाँ अनेक जीव छेदन–भेदन की भयंकर वेदना को सहन करते हैं। परमाधार्मिक असुरकुमार देवों द्वारा कितने ही जीव घाणी में तिल के समान पीले जाते हैं, लकड़ी के समान आरों से कितने ही जीव काटे जाते हैं, कितने ही जीव शूलों की शय्या पर सुलाये जाते हैं, कितने ही जीव पत्थर पर कपड़े की भाँति पटके जाते हैं, कितने ही जीव लोहपात्र के समान मुद्गर (हथोड़े) से कूटे जाते हैं तथा कितने ही जीव टुकड़े–टुकड़े कर काटे जाते हैं। इस प्रकार वे नारकी जीव करुण शब्दों में चीत्कार करते हुए वैक्रिय शरीर पुन: जुड़ जाते हैं वैसे ही उन्हें पुन: पुन: दु:ख का अनुभव कराया जाता है। फिर प्यास लगने पर उन्हें उबलते हुए सीसे का रस पिला दिया जाता है और छाया के लिए असिपत्र वृक्ष के नीचे बिठाया जाता है। इस प्रकार नरक में नारकी जीव पूर्वकर्म का स्मरण करते हुए मुहूर्त्तभर के लिए भी वेदना रहित होकर नहीं रहते हैं। हे वत्सा! नरक में गये हुए जीवों के जो दु:ख हैं, उनको सुनाये जाने मात्र से भी दूसरे जीव दु:खी हो जाते हैं।

तिरियगईसु वि जलयर–थलयर–खयरजीवा सकम्मजणिअदुक्खं अणुभवमाणा पच्चक्खं पेक्खिज्जंति। तत्थ जलयरा परुप्परं तिमिंगिलणाएण खायंता मच्छबंधेहिं परिगिण्हिज्जंति बगाईहिं च गिलिज्जंति, एवं केवि उक्कीलिज्जंति, केवि भज्जिज्जंति, कियंता भोत्तुकामेहिं विपच्चिज्जंति य।

तिर्यंच गति में भी जलचर–थलचर और खेचर जीव स्वकर्मानुसार दु:खों का अनुभव करते हुए प्रत्यक्ष देखे जाते हैं। वहाँ जलचर जीवों में कुछ जलचर जीव परस्पर मत्स्य न्याय के अनुसार खाये जाते हुए मच्छीमारों (धीवरों) के द्वारा जाल में पकड़ लिये जाते हैं तथा कुछ को बगुलों द्वारा निगल लिया जाता है। इसी प्रकार मनुष्यों द्वारा कितनों का ही चमड़ा उतार लिया जाता है और कितनों को (माँस के लिए) ही भून दिया जाता है। कितनों को ही भोजन के लिए पकाया जाता है।

एवं थलयरा मिगाइपाणिणो मंसाहारि–सिंघवग्घप्पमुहकूरसत्तेहिं

भक्खिज्जंति, मिगयासत्तेहिं मंसत्थीहिं वागुरिएहिं अणवराहिणो ते हणिज्जंति, खुहा-पिवासा-सीउण्हाऽइभारारोवणाइणा कसं-ऽकुसतोत्तगेहिं च एए अईव वेयणं सहंते।

इस प्रकार थलचर जीवों में मृगादि जीवों को माँसाहारी सिंह, बाघ आदि क्रूर जीवों के द्वारा खाया जाता है। शिकार करने वाले शिकारी माँस के लिए निरन्तर उनका वध करते हैं। पशुगण क्षुधा, पिपासा, शीत, गर्मी सहन करते हुए बहुत भार वहन करते हैं और चाबुक, अंकुश आदि की भयंकर वेदना को सहन करते हैं।

तित्तिरसुगपारेवयचंडयाइखेअरा सेण सिंचाणगिद्धप्पमुहेहिं मंसलुद्धेहिं गिण्हिज्जंति, मंसलुद्धसाउणिएहिं नाणोवायपवंचणेण नाणारूवविडंबणेहिं पइहम्मिज्जंति, एवं तिरिआणं जलाइसत्थाइंजणियभयं सव्वओ निअनिअकम्मबंधनिबंधणं सिआ।

खेचर जीवों में तीतर, तोता, कबूतर, चिड़िया आदि पक्षियों को मांसभोजी बाज, सिंचान, गिद्ध आदि पक्षी पकड़कर खा जाते हैं। मांसभोजी, पक्षियों को पकड़ने वाले अनेक प्रकार छल करके, तरह-तरह से यातनाएँ देकर मार डालते हैं। इस प्रकार तिर्यंच गति में जल आदि शस्त्रजनित भय सबके अपने-अपने संचित कर्मबन्ध के कारण हैं।

माणुस्सए वि संपत्ते के वि मणूसा जम्मओ अंधा बहिरा पंगुणो कुट्ठिणो य जायंते, चोरिअपरदार-वह-बंध-पसत्ता केवि माणवा नारगा इव नवनवनिग्गहेहिं निगिण्हिज्जंति, के वि मणुआ निरंतरं विविहवाहीहिं बाहिज्जमाणा परमुहं पेक्खमाणा पुत्तेहिं पि उविक्खिज्जंति, मुल्लकिणिआ के वि अस्सयरा इव तालिज्जंति, अन्ने य अइभारेण वाहिज्जंति पिवासाइयं च अणुभाविज्जंति।

मनुष्यगति में भी कितने ही मनुष्य जन्म से अन्धे, बहरे, अपंग और कुष्ठ रोगी होते हैं। कितने ही मनुष्य चोरी, परस्त्रीगमन, हिंसा के बन्ध से बन्धा हुआ नरक के समान नये-नये दण्ड़ों से दण्डित होते हैं। कितने ही मनुष्यों की निरन्तर विविध रोगों के द्वारा बहरे होकर, विमुख होकर देखते हुए पुत्रों के द्वारा भी उपेक्षा की जाती है। कितने ही अनेक मूल्य देकर खरीदी हुई अप्सराओं (दासियों) के समान ताड़ित (दण्डित) किये जाते हैं और कुछ पर अधिक भार ढ़ोया जाता है और भूख-प्यास आदि को सहन कराया जाता है।

क्रमशः

अनुवादक-श्री राकेश कुमार जैन

चउसरण पइण्णा (चतुःशरण प्रतिज्ञा)

-संकलित

1 सावज्जजोगविरई, 2 उक्कित्तण, 3 गुणवओ य पडिवत्ती।
4 खलिअस्स निंदणा, 5 वणतिगिच्छ, 6 गुणधारणा चेव।।1।।

सावज्जजोगविरई (सावज्जजोगविरइ) स्त्रीलिंग प्रथमा विभक्ति, एकवचन-सावद्य योग विरति। **उक्कित्तण** (उक्कित्तण) नपुंसकलिङ्ग प्रथमा विभक्ति, एकवचन-उत्कीर्त्तन। **य** (य) अव्यय-और। **गुणवओ पडिवत्ती** [(गुणवअ) विशेषण (पडिवति)] स्त्रीलिङ्ग प्रथमा विभक्ति, एकवचन-गुणवत् प्रतिपत्ति। **खलिअस्स निंदणा** [(खलिअ) षष्ठी विभक्ति, एकवचन (निंदण)] स्त्रीलिङ्ग प्रथमा विभक्ति, एकवचन-स्खलित की निन्दा। **वणतिगिच्छ** [(वण) (तिगिच्छा)] स्त्रीलिङ्ग प्रथमा विभक्ति,एकवचन-व्रण-चिकित्सा। **चेव** [(च)+(एव)] अव्यय-और। **गुणधारणा** (गुणधारणा) स्त्रीलिंग प्रथमा विभक्ति,एकवचन-गुण मर्यादा (प्रत्याख्यान)।

सावद्य योग से विरति रूप पहला सामायिक आवश्यक, चौबीस तीर्थंकरों के गुणकीर्त्तन रूप दूसरा चउवीसत्थव आवश्यक, गुणवान की वन्दना रूप तीसरा वन्दना आवश्यक, लगे हुए अतिचारों की निन्दा रूप चौथा प्रतिक्रमण आवश्यक, भाव व्रण अर्थात् आत्मा पर लगे हुए भारी दोषों को मिटाने रूप पाँचवाँ कायोत्सर्ग आवश्यक और गुण को धारण करने रूप छठा प्रत्याख्यान ये छह ही आवश्यक हैं।

चारित्तस्स विसोही, कीरइ सामाइएण किल इहयं।
सावज्जेतरजोगाण, वज्जणासेवणत्तणओ।।2।।

इहयं [(इह) (यं)] अव्यय-इस (जिनशासन) में। **सामाइएण** (सामाइअ) नपुंसकलिङ्ग तृतीया विभक्ति, एकवचन-सामायिक के द्वारा। **किल** (किल) अव्यय-निश्चय। **चारित्तस्स** (चारित्त) विशेषण षष्ठी विभक्ति, एकवचन-चारित्र की। **विसोही** (विसोहि) स्त्रीलिङ्ग प्रथमा विभक्ति, एकवचन-विशुद्धि। **कीरइ** (कीरइ) अनियमित वर्तकालिक कर्मवाच्य क्रिया-की जाती है। **सावज्जेतरजोगाण** [(सावज्ज) (इतर) (जोग)] पुल्लिङ्ग षष्ठी विभक्ति,बहुवचन-सावद्य और इतर (निरवद्य) योगों के। **वज्जणासेवणत्तणओ** [(वज्जण) (आसेवणत्तण)] पंचमी विभक्ति, एकवचन-त्याग से और आसेवन से।

इस जिनशासन में सामायिक के द्वारा निश्चय से चारित्र की विशुद्धि की जाती है। जो सावद्य योग का त्याग करने से और निरवद्य योग का सेवन करने से होती है।

दंसणायारविसोही, चउवीसत्थएण किच्चइ य।
अच्चब्भुअगुणकित्तणरूवेण जिणवरिंदाणं।।3।।

दंसणायार विसोही [(दंसण+आयार) विशेषण (विसोही)] स्त्रीलिङ्ग प्रथमा विभक्ति, एकवचन-दर्शनाचार की विशुद्धि। **जिणवरिंदाणं** [(जिणवर) विशेषण+(इंद)] पुल्लिङ्ग षष्ठी विभक्ति, बहुवचन-जिनेश्वरों (जिनेन्द्र भगवान) के। **अच्चब्भुअगुणकित्तणरूवेण-** [(अच्चब्भुअ)(गुणकित्तणरूव)] विशेषण तृतीया विभक्ति, एकवचन-अति अद्भुत गुण कीर्त्तन रूप। **चउवीसत्थएणं** (चउवीसत्थअ) पुल्लिङ्ग तृतीया विभक्ति, एकवचन-चतुर्विंशतिस्तव के द्वारा। **किच्चइ-**अनियमित वर्तमानकालिक कर्मवाच्य क्रिया-की जाती है।

दर्शनाचार की विशुद्धि, जिनेश्वरों के अति अद्भूत गुण कीर्त्तन रूप चतुर्विंशतिस्तव के द्वारा की जाती है।

नाणाईआ उ गुणा, तस्संपण्णपडिवत्तिकरणाओ।
वंदणएणं विहिणा, कीरइ सोही उ तेसिं तु।।4।।

नाणाईआ उ गुणा [(नाण+आईअ) (गुण)] पुल्लिङ्ग प्रथमा विभक्ति, बहुवचन (उ) अव्यय-ज्ञानादि गुण। **तस्संपण्णपडिवत्तिकरणाओ** [(त) (सम्पन्न) (पडिवत्तिकरण)।] विशेषण स्त्रीलिङ्ग पंचमी विभक्ति, एकवचन-उनसे सम्पन्न की प्रतिपत्ति (भक्ति) करने से। **वंदणएणं विहिणा** [(वंदणअ) (विहि)] पुल्लिङ्ग विशेषण तृतीया विभक्ति, एकवचन-विधि सहित वन्दना करने से। **तेसिं तु** (त) नपुंसकलिङ्ग षष्ठी विभक्ति, बहुवचन(तु) अव्यय-उनकी निश्चय ही। **सोही** (सोहि) स्त्रीलिङ्ग प्रथमा विभक्ति, एकवचन-विशुद्धि। **कीरइ** (कीरइ) अनियमित वर्तमानकालिक कर्मवाच्य क्रिया-की जाती है।

ज्ञानादिक गुण और उन ज्ञानादि गुणों से युक्त की भक्ति करने से, विधिवत् वन्दना करने से उन ज्ञानादि गुणों की विशुद्धि तीसरे वन्दना आवश्यक के द्वारा की जाती है।

खलिअस्स य तेसिं पुणो, विहिणा जं निंदणाइ पडिक्कमणं।
तेण पडिक्कमणेणं, तेसिं पि य कीरए सोही।।5।।

खलिअस्स (खलिअ) नपुंसकलिङ्ग षष्ठी विभक्ति, एकवचन-स्खलित की। **य पुणो** (य) (पुणो) अव्यय-और पुनः। **तेसिं** (त) नपुंसकलिङ्ग षष्ठी विभक्ति, बहुवचन-उन (ज्ञानाचार आदि) की। **निंदणाइ** (निंदणा) स्त्रीलिङ्ग चतुर्थी विभक्ति, एकवचन-निन्दा के लिए। पडिक्**कमणं-**(पडिक्कमण) नपुंसकलिङ्ग चतुर्थी विभक्ति, एकवचन-प्रतिक्रमण है। **य** (य) अव्यय-और। **तेण पडिक्कमणेणं** (त) सर्वनाम विशेषण (पडिक्कमण) नपुंसकलिङ्ग तृतीया विभक्ति, एकवचन-उस प्रतिक्रमण के

द्वारा। **तेसिं पि** (त) नपुंसकलिङ्ग षष्ठी विभक्ति, बहुवचन (पि) अव्यय-उन ज्ञानाचार आदि की भी। **सोही** (सोहि) स्त्रीलिङ्ग प्रथमा विभक्ति, एकवचन-विशुद्धि। **कीरइ** (कीरइ) अनियमित कर्मवाच्य वर्तमानकालिक क्रिया-की जाती है।

व्रतों में हुई स्खलना (अपराध) पुन: ज्ञानाचार आदि की, निन्दा के लिए प्रतिक्रमण है। उस चतुर्थ प्रतिक्रमण आवश्यक के द्वारा उन ज्ञानाचार आदि की विशुद्धि की जाती है।

चरणाइयारा णं जहक्कम्मं वणतिगिच्छरूवेणं।
पडिक्कमणासुद्धाणं, सोही तह काउसग्गेणं।।6।।

चरणाइयारा णं [(चरण)+(अइयार) पुल्लिङ्ग प्रथमा विभक्ति, बहुवचन] (णं) अलंकार सूचक-चारित्र आदि के अतिचारों की। **पडिक्कमणासुद्धाणं** [(पडिक्कमण) (असुद्ध)] नपुंसकलिङ्ग, षष्ठी विभक्ति, बहुवचन-प्रतिक्रमण के द्वारा शुद्धि नहीं हुई हो। **जहक्कम्मं** (जहक्कम्म)-यथाक्रम से। **तेसिं** (त) पुल्लिङ्ग, षष्ठी विभक्ति बहुवचन-उन चारित्रादि की। **पि-**(पि) अव्यय भी। **वणतिगिच्छरूवेणं** [(वण) (तिगिच्छा) (रूव)] तृतीया विभक्ति,एकवचन-व्रण चिकित्सा रूप। **काउसग्गेणं** (काउसग्ग) तृतीया विभक्ति, एकवचन-कायोत्सर्ग के द्वारा। **सोही** (सोहि) स्त्रीलिङ्ग प्रथमा विभक्ति, एकवचन-शुद्धि।

चारित्र के जिन अतिचारों की प्रतिक्रमण के द्वारा शुद्धि नहीं हुई हो उनके लिये तथा यथाक्रम से उन (चारित्रादि) की भी व्रण चिकित्सा रूप पाँचवें कायोत्सर्ग आवश्यक के द्वारा शुद्धि की जाती है।

गुणधारणरूवेणं, पच्चक्खाणेण तवइआरस्स।
विरिआयारस्स पुणो, सव्वेहि वि कीरए सोही।।7।।

गुणधारणरूवेणं [(गुण) (धारण) (रूव)] विशेषण तृतीया विभक्ति, एकवचन-गुणधारण रूप। **पच्चक्खाणेण** (पच्चक्खाण) नपुंसकलिङ्ग तृतीया विभक्ति, एकवचन-प्रत्याख्यान के द्वारा। **तवइआरस्स** [(तव) (अइयार)] षष्ठी विभक्ति, एकवचन-तप के अतिचार। **पुणो वि** [(पुणो) (वि)] अव्यय-पाद पूर्ति हेतु। **सव्वेहि-** [(सव्व)] तृतीया विभक्ति, बहुवचन-सभी (आवश्यकों) के द्वारा। **वीरिआयारस्स** [(वीरिअ) (आयार)] षष्ठी विभक्ति, एकवचन-वीर्याचार की। **सोही** (सोहि) स्त्रीलिङ्ग प्रथमा विभक्ति, एकवचन-शुद्धि। **कीरइ** (कीरइ) अनियमित कर्मवाच्य वर्तमानकालिक क्रिया तृतीया विभक्ति, एकवचन-की जाती है।

गुणधारण रूप छठे प्रत्याख्यान आवश्यक के द्वारा तप के अतिचार की और सभी (छह आवश्यकों) के द्वारा वीर्याचार की शुद्धि की जाती है।

व्याकरणिक विश्लेषण-श्री राकेश कुमार जैन

संस्कृत-खण्ड

हरिश्चन्द्रचरित्रम्

तारामत्याः पुत्रस्य कृते विलापः

-पं. लक्ष्मण वासुदेव माण्डवगणे

श्रद्धेयगौतममुनिमहाभागेन पण्डितमाण्डवगणेमहाभागस्य सकाशात् संस्कृतभाषाऽध्ययनकाले जवाहराचार्यप्रणीतस्य जवाहरकिरणावल्या हरिश्चन्द्रभागस्याधारेण संस्कृतभाषायामनुवादस्य अभ्यासः कृतः। मुनिमहाभागेन कृतेऽनुवादे संशोधनं कृत्वा पण्डितमाण्डवगणेमहाभागेन इदं हरिश्चन्द्रचरित्रं सम्यग्रूपेण अनूदितम्। संस्कृतभाषाया अध्येतृणां कृते उपयुक्तमिदं हरिश्चन्द्रचरित्रं स्वाध्यायशिक्षायां क्रमशो दीयते। -सम्पादक

तारामती का पुत्र के लिए विलाप

यदा धावन्तस्ते बालका ब्राह्मणगृहं प्राप्नुवन् तदा नियतसमयेऽनागवतन्तं बालकं रोहितमेव विचिन्तयन्त्यास्त। रोहिताऽदर्शनेन संविग्नमानसा सा मनसि विविधान् विकल्पानकरोत्। अत्रान्तर एव बालकास्तारामतीमुपसृत्याऽब्रुवन्-मातः! तव पुत्रस्त्वां पूतकुर्वन्नेव मूर्च्छितो भूमौ न्यपतत्। इति।

जब वे बालक दौड़ते हुए ब्राह्मण के घर को आये तब नियत समय पर नहीं आते हुए बालक रोहित का ही चिन्तन कर रही थी। रोहित को नहीं देखने से अशान्त मन वाली वह तारामती मन में विविध विकल्प करने लगी। इसी बीच बालकों ने तारामती के नजदीक आकर कहा-हे माता! आपका पुत्र आपको पुकारता हुआ ही मूर्च्छित होकर भूमि पर गिर पड़ा है।

तदा संसभ्रमा ताराऽपृच्छत्-कुत्र मे बालको मूर्च्छितः पतितः, इति। अहं चिरादेव तं प्रतीक्षमाणाऽसम्। तदा ते बालका अवदन्-मातः! अयं समाचारस्त्वतीव दुःखदः। परमकथितेऽस्मिन्न समाचारे तव महती हानिः स्यात्। अतः श्रावयामः। श्रूयताम्। वने वृक्षमारोहन्तं तव पुत्रं भीमदर्शनः कश्चित् भीमविषः सर्पोऽदशत्। तेन संमूर्च्छितः स भूमावपतत्। कदाचित् तव तत्र गमनात्प्रागेव तस्य प्राणज्योतिर्विलयं गतं भवेत्। नर इतरत्सर्वं सोढुं शक्नोति परमेकाकिनः पुत्रस्य विरहदुःखं सोढुं नितरामेवाऽक्षमोऽस्ति। बालकमुखात् वज्रवत् दारुणमिमं वृत्तान्तं श्रुत्वा वज्राघातविह्वलेव तारामती तत्क्षणमेव

मूर्च्छिताऽभवत्। सर्वे बालकास्तां परितो वेष्टयित्वाऽतिष्ठन्। अत्रान्तरे स ब्राह्मणोऽपि तत्रायात्। स बालकानपृच्छत्–किमिदम्! बालकमुखात् तं दारुणं वृत्तान्तं श्रुत्वा ब्राह्मणो व्यचिन्तयत्–अस्या: पुत्रस्तु पञ्चत्वं गत एव। परं तस्य परमशोकेन दु:खाकुलेयमपि प्राणान् त्यजेच्चेत् अहं पचशतसुवर्णमुद्रा: प्राप्तुं न शक्नुयाम्। इति विचिन्त्य ब्राह्मणस्तारामतीं संज्ञापयितुं शीतलोपचारान् अरचयत्। तेन संज्ञामधिगता तारामती 'वत्स रोहित! वत्स रोहित! इति वदन्त्युच्चैर्व्यलपत्। तदा तां निर्भर्त्सयन् ब्राह्मणोऽजल्पत्–यदाऽहमकथयं, यदिमं बालकमितस्ततो गन्तुं नाऽनुमोदस्व, इति। तदा मम वचनमनाकर्णयन्ती त्वमिदानीं तदर्थं विलपसि। किं त्वमपि रुदती तेन सह प्राणान् त्यक्त्वा मम पञ्चशतसुवर्णमुद्रा नाशयिष्यसि! गच्छ शीघ्रम्। तस्य यत्कर्तव्यं तत्कृत्वा सत्वरं प्रत्यागच्छ, इति।

तब जल्दबाजी करती हुई तारा ने पूछा–कहाँ मेरा बालक मूर्च्छित होकर गिरा है। मैं लम्बे समय से ही उसकी प्रतीक्षा कर रही थी। तब वे बालक बोले–माता! यह समाचार अत्यन्त दु:खदायी है, लेकिन यह समाचार नहीं कहने से आपकी बहुत बड़ी हानि हो जायेगी, अत: सुनाते हैं। आप सुनिये! वन में वृक्ष पर चढ़ते हुए आपके पुत्र को भयंकर दिखने वाले किसी भयंकर विष वाले सर्प ने डस लिया है, अत: मूर्च्छित बना हुआ वह भूमि पर गिर गया। शायद आपके वहाँ जाने से पहले ही उसकी प्राण ज्योति बुझ जायेगी। व्यक्ति अन्य सब कुछ सहन कर सकता है परन्तु अकेले पुत्र के विरह के दु:ख को सहन करने में अत्यन्त असमर्थ होता है। बालकों के मुख से वज्र के समान कठोर इस दारुण वृत्तान्त को सुनकर वज्र के आघात से विह्वल बनी हुई वह तारामती उसी क्षण मूर्च्छित हो गई। सारे बालक उसे घेरकर खड़े हुए थे। इसी बीच वह ब्राह्मण भी वहाँ आया और बालकों को पूछने लगा–यह क्या है? बालकों के मुख से उस दारुण वृत्तान्त को सुनकर ब्राह्मण विचार करने लगा। इसका पुत्र तो स्वर्गस्थ हो गया ही होगा। लेकिन उसके परम शोक से दु:ख से व्याकुल बनी हुई यह भी प्राणों को यदि त्याग देगी तो मैं पाँच सौ स्वर्णमुद्राएँ प्राप्त करने में समर्थ नहीं होऊँगा। ऐसा विचार करके ब्राह्मण ने तारामती को होश में लाने के लिए शीतल उपचारों को किया जिससे तारामती होश को प्राप्त हुई और पुत्र रोहित, पुत्र रोहित ऐसा बोलती हुई जोर से विलाप करने लगी। तब वह ब्राह्मण उसे भर्त्सना करता हुआ बोला–जब मैंने कहा था कि इस बालक को इधर–उधर जाने का अनुमोदन मत करो तब मेरे वचन को नहीं सुनती हुई तुम अब उसके लिए विलाप कर रही हो। क्या तुम भी रोती हुई उसके साथ प्राणों को त्यागकर मेरे पाँच

सौ स्वर्णमुद्राओं का नाश करोगी। शीघ्र जाओ। उसका जो कर्त्तव्य है वह करके शीघ्र वापस आओ।

ब्राह्मणस्यैतै: प्रताडनावचनै र्विदीर्णहृदया तारामती विवशतया तच्छृण्वती द्विजाय धन्यवादमेवाऽददात्। यत: साऽमन्यत–अनेन दुरात्मना याचितं विनैव पुत्रस्यान्तिमसंस्कारार्थं मह्यं समयस्तु प्रदत्त:, इति।

ब्राह्मण के इन प्रताड़ना वाले वचनों से विदीर्ण हृदय वाली तारामती विवशता से उसे सुनती हुई ब्राह्मण को धन्यवाद ही दे रही थी क्योंकि वह मानती थी कि इस दुरात्मा ने बिना माँगे ही पुत्र के अन्तिम संस्कार के लिए मुझे समय प्रदान किया है।

विप्रस्य प्रताडनया क्षणमात्रं दु:खं विस्मृत्य महता धैर्येण ब्राह्मणमवोचत्–भो पितृतुल्य स्वामिन्! यद् भावि तच्चाऽभवत्। अहमेकाकिनी तत्र गत्वा किं कर्तुं शक्नुयाम्? अतस्त्वं स्वयं कृपया मया सहाऽऽगन्तुमन्यं वा कमपि योग्यं नरं मया सह प्रेषयितुमर्हसि। येन कोऽप्युपाय: कर्तुं शक्येच्चेत्–करिष्यते। इति।

ब्राह्मण की प्रताड़ना से क्षणमात्र दु:ख को भूलकर बड़े धैर्य से वह ब्राह्मण को बोली–हे पिता समान स्वामी! जो होना है वह हो गया। मैं अकेली वहाँ जाकर क्या कर सकती हूँ। अत: आप स्वयं कृपा करके मेरे साथ चलें अथवा अन्य किसी योग्य व्यक्ति को मेरे साथ भेजने की कृपा करे जिससे कोई भी उपाय करना सम्भव हो सकेगा तो करेंगे।

दु:खाकुलायास्तारामत्यास्तद्वचनमाकर्ण्य निष्करुणहृदयो ब्राह्मणस्तारां निर्भर्त्सयन्नाह–इदानीं पञ्चत्वं गतेन तेन किं प्रयोजनम्? वने मृत: स ग्रामं वा गृहं वा आनेतुं नाऽर्ह:। अपि च त्वया सह वयं कुत्र कुत्र भ्रमाम। अत: शीघ्रतरं गच्छ। तस्यान्त्येष्टिं कृत्वा क्षिप्रमागच्छ। मा विलम्बस्व। इति ब्राह्मणवचनेन निकृत्यमानहृदया तारामती सहायलाभे निराशा भूत्वा बालकानवोचत्–वत्सा:! एत। कुत्र पतितो मे सुत:? दर्शयत। बालकास्तारामत्या वचनमङ्गीकृत्य विलपन्तीं तां गृहीत्वा तयाऽऽजग्मु:। यत्र पञ्चत्वं गतो रोहितो भूमौ निपतित आसीत्।

दु:ख से व्याकुल तारामती के उस वचन को सुनकर निष्करुण हृदयी वह ब्राह्मण तारामती को डाँटता हुआ बोला–मरण को प्राप्त उससे अब क्या प्रयोजन है ? वन में मरा हुआ वह गाँव या घर को लाने के लिए योग्य नहीं है और तुम्हारे साथ हम कहाँ कहाँ घूमेंगे। अत: शीघ्र जाओ और उसकी अन्त्येष्टि करके शीघ्र आओ। विलम्ब

मत करो। ब्राह्मण के ऐसे वचनों को सुनकर दीन हृदया तारामती सहाय लाभ में निराश होकर बालकों को बुलाती है–हे बालको! आओ! कहाँ गिरा है मेरा पुत्र! तुम सब दिखाओ। बालक तारामती के वचनों को स्वीकार करके विलाप करती हुई उस तारामती को लेकर वहाँ आये, जहाँ मरा हुआ रोहित धरती पर पड़ा हुआ था।

बालका दूरादेव तारामत्यै रोहितशवमदर्शयन्। तदा तारामती रभसेन पलायमाना तमुपसृत्य रोहितशवमुरसा पुनः पुनः समालिङ्ग्योधैराक्रोशन्ती सोरस्ताडमरोदीत्। अत्रान्तरे तां तथा सोरस्ताडमाक्रोशन्तीमवलोक्य द्रवित–हृदयः कश्चिद् सज्जनस्तां समाश्वासयन्नब्रवीत्–मातः! शोकेनालम्। किमर्थं मुधा शोचसे। अस्य बालकस्य मरणं वीरोचितं समभवत्। त्वमपि प्राणान–विगणयन्ती सत्यव्रतं तथा पर्यपालयः, यथा तव कीर्तिर्दिगन्तराणि व्याप्नोत्। इदानीं पुत्रशोकार्ता त्वं किं सत्यधर्मं तित्यक्षसि। यस्य कृते त्वं राज्यवैभवादिक–मप्यत्याक्षीः। असह्यानि कष्टान्यसहिष्ठाः। दासीत्वमङ्गीकृतवती। पतिस्नेह–मप्यहीसीः।

बालकों ने दूर से ही रोहित का शव तारामती को दिखाया। तब तारामती शीघ्रता से दौड़ती हुई पास आकर रोहित के शव को अपनी छाती से बार–बार आलिंगन करके उच्च स्वर से आक्रोश करती हुई जोर–जोर से रोने लगी। इसी बीच उसे इस तरह जोर–जोर से आक्रोश करती हुई देखकर एक द्रवित हृदय वाला कोई सज्जन आश्वासन देता हुआ बोला–माता! शोक मत करो। किसलिए व्यर्थ में शोक कर रही हो। इस बालक का मरण वीरोचित हुआ है। तुमने भी प्राणों की परवाह नहीं करते हुए सत्यव्रत को इस तरह पालन किया जिससे तुम्हारी कीर्ति दिग–दिगन्त में व्याप्त हो गई। अब क्या तुम पुत्र के शोक में दुःखी बनी हुई सत्यधर्म को तिलाञ्जली दोगी। जिसके लिए तुमने राज्य–वैभवादि को त्यागा। असहनीय कष्टों को सहन किया। दासीपने को स्वीकार किया तथा पति के स्नेह को भी त्याग दिया।

त्वं ब्राह्मणहस्ते विक्रीताऽसि। ब्राह्मणाय पञ्चशतस्वर्णमुद्रा धारयसि। पुत्रशोकविह्वला कातरक्षी त्वं प्राणान् त्यक्ष्यसि चेत् विप्रवरस्य विश्वासघातो भविष्यति। त्वं च स्वधर्मात् च्युता भविष्यसि। अतो भद्रे त्वं मरणेऽपि स्वतन्त्रया नाऽसि। कातरतां परित्यज्य मरणविचारं विहाय स्वधर्मं स्मर। तुभ्यं तव स्वामिनाऽल्प एवाकाशः प्रदत्तोऽस्ति। विलापे एव तमवकाशं व्यत्येष्यसि चेत् स्वामिन् आशाभङ्ग भाक् भविष्यसि। अतो धैर्यमवलम्बस्व। पुत्रस्यान्त्येष्टिं कर्तुं सज्जा भव। वीरपत्नी क्षत्रियाणी पुत्रस्य कृते कातरतां न भजति। त्वं सूर्यवंशस्य कुलवधूदानिवीरस्य सत्यधर्मपरायणस्य हरिश्चन्द्रस्य धर्मपत्नी, स्वातन्त्र्यप्रियस्य

वीररोहितस्य च माताऽसि। वीरपत्न्या वीरमातुश्च ते शोककरणं न समुचितम्। अपरं च शोकेन समागतदु:खस्य प्रतिकार: कर्तुं न शक्यते। अत: शोकेन को लाभ:? क्षत्रियोचितं धैर्यमवलम्ब्य कर्त्तव्यं समाचर, इति।

तुम ब्राह्मण के हाथ में बिकी हुई हो। ब्राह्मण की पाँच सौ स्वर्णमुद्राओं की ऋणी हो। पुत्र के शोक से विह्वल कातर आँखों वाली यदि तुम प्राणों को त्याग करोगी तो ब्राह्मण का विश्वासघात होगा। और तुम स्वधर्म से च्युत हो जाओगी। इसलिए हे भद्रे! तुम मरण के विषय में भी स्वतन्त्र नहीं हो। कातरता को छोड़कर मरण के विचार को त्यागकर स्वधर्म का स्मरण करो। तुम्हें तुम्हारे स्वामी ने थोड़ा सा ही अवकाश प्रदान किया है। यदि विलाप में ही उस अवकाश को व्यतीत कर दोगी तो स्वामी की आशा को भंग करने की भागी बनोगी। अत: धैर्य का अवलम्बन लो। पुत्र की अन्त्येष्टि के लिए तैयार हो। वीरपत्नी क्षत्रियाणि पुत्र के लिए कातरता को प्राप्त नहीं करती है। तुम सूर्यवंश की वधू, दानवीर, सत्यधर्म परायण हरिश्चन्द्र की पत्नी तथा स्वतन्त्रताप्रिय वीर रोहित की माता हो। वीरपत्नी व वीरमाता ऐसी तुम्हारे द्वारा शोक करना उचित नहीं है। और दूसरी बात शोक करने से आये हुए दु:ख का प्रतिकार करना सम्भव नहीं है। अत: शोक से क्या लाभ है? क्षत्रिय के लिए उचित धैर्य का अवलम्बन लेकर कर्त्तव्य का पालन करो।

महात्मन: सत्पुरुषस्यानेन वचनेन परमविस्मयान्वितमानसा सा व्यचिन्तयत्–अयं महापुरुषो मां कथं वेति? अयं यद् यत् कथितवान्। तेन प्रतीयतेऽयं महानुभाव: परिचित इति। अस्योपदेशवचनमपि समुचितं वर्तते। अहं दासीभावेन ब्राह्मणगृहे निवसामि। स्वामिन आदेशं विनाऽल्पमपि समयं व्यत्येतुं न शक्नोमि। तर्हि मरणे स्वाधीना कथं भवामि। यत्सत्यमद्यावधि मया प्राणप्रणेनापि रक्षितं तन्ममाऽऽत्मघातेन विनश्येत्। अत इदानीं रोहितमरणादपि सत्यरक्षणं मे वरम्। इति विचार्य रोहितचिन्तां परित्यज्य येन सत्यरक्षणं स्यात् तदेव करणीयमिति सा निश्चिकाय।

महात्मा सत्पुरुष के इन वचनों से परम विस्मय मानस वाली तारामती विचार करने लगी–यह महापुरुष मुझको कैसे जानता है? इसने जो जो कहा है, उससे प्रतीत होता है कि यह महानुभाव परिचित है। इसका उपदेश वचन भी समुचित है। मैं दासीभाव से ब्राह्मण के घर में निवास कर रही हूँ। स्वामी के आदेश के बिना थोड़ा सा भी समय व्यतीत करने में समर्थ नहीं हूँ। फिर मरण में कैसे स्वाधीन होऊँगी। जिस सत्य को मैंने आज तक प्राण–प्रण से रक्षित किया है, वह मेरे आत्मघात से विनष्ट हो जायेगा। अत: अभी रोहित के मरण से भी मेरा सत्य–रक्षण करना अच्छा है। ऐसा विचार करके रोहित

की चिन्ता को त्यागकर जिससे सत्य का रक्षण होगा वह ही करना चाहिए ऐसा उसने निश्चय किया।

एवं महापुरुषोपदेशवचनेन तारामती स्वस्थमना: समभूत्। हृदिस्थं दारुणं दु:खमन्तरेव निगृह्य सा रोहितस्याऽन्त्येष्टिं कर्तुं निश्चिनोत्। परं विना कस्यापि सहायमहमेकाकिनी किं कर्तुं शक्नुयाम्। कुत्र वर्तते श्मशानम्? कथं क्रियतेऽन्त्येष्टि:? अहं किमपि न जानामि। अत: कस्यापि सज्जनस्य सहायतां प्राप्नुयाम् चेत् मदीयमेतत्कार्यं सुलभं भवेत्। तारामती यावदेवं विचिन्तयति तावदेव स परमदुष्टो देवस्तत्र समापतित:। तस्य मायाप्रभावात् सर्वेऽपीतस्ततस्तिष्ठन्तो जना: स्वं स्वमभीष्टं स्थानमगच्छन्। तारामत्यामुच्चैशव वाहयन्त्यामपि न कोऽपि तां प्रत्यैक्षत। सैकाकिन्येवाऽतिष्ठत्।

इस प्रकार महापुरुष के उपदेश वचन से तारामती स्वस्थ मन वाली हो गई। हृदय में स्थित भयंकर दु:ख को अन्तर में ही छिपाकर उसने रोहित की अन्त्येष्टि करने का निश्चय किया। लेकिन बिना किसी की सहायता के क्या अकेली मैं करने में समर्थ हो सकूँगी। श्मशान कहाँ है? कैसे करते हैं अन्त्येष्टि? मैं कुछ नहीं जानती हूँ। अत: किसी भी सज्जन की सहायता प्राप्त करूँ जिससे मेरा यह कार्य सुलभ हो जायेगा। तारामती जब ऐसा विचार कर रही थी तब ही वह परम दुष्ट देव वहाँ आ गया। उसके माया के प्रभाव से सभी इधर-उधर खड़े हुए लोग अपने-अपने अभीष्ट स्थान को चले गये। ऊपर से शव को वहन करती हुई उस तारामती को किसी ने नहीं देखा। वह अकेली ही थी।

अमावस्याया भीषणा कृष्णवर्णा विकराला रात्रि: सर्वासु दिक्षु निबिडतममन्धतमसं व्यतनोत्। शृगालवृकभलूकादीनां कर्णकर्कशा भयानका आरावा: श्रुतिगोचरतामाययु:। कृष्णवर्णा घनघटा आकाशं सर्वतो व्याप्नुवन्। एतादृश्यां भीषणायां तमस्विन्यां रात्रौ तारामत्यात्मनो मृतपुत्रं रोहितं गृहीत्वैकाकिन्येवाऽऽस्त। रोहितशवमङ्के गृहीत्वा विलपन्ती तारामती सकरुणमेवमवोचत्-पुत्र रोहित! उत्तिष्ठ। पश्येमामभागिनीं त्वदर्थमाक्रोशन्तीमात्मनो मातरं। कथं तूष्णीं प्रगाढां निद्रां प्राप्तोऽसि। वत्स! त्वं त्वहर्निशं विविधैर्वृत्तान्तैर्मातुर्दु:खान्यपसार्य मातरं समाश्वासयन्नास्या:। अद्य किं निष्करुणोऽसि। किमर्थं तूष्णीं स्थितोऽसि। तव मुखं तथैवाऽऽभावत् वर्तते यथा ममाङ्के स्वपत आसीत्। तर्हि किमर्थं किञ्चिदपि न भाषसे! किमर्थं मात्रे रुष्टोऽसि? इदानीं मां क: समाश्वासयेत्? अद्यावधि महत्याशाऽऽसीत् यत् त्वं पितरौ दु:खात् मोचयिष्यसि, इति। अत: परं को ममाशां पूरयिष्यति। को मां

मातः, मातः इति पूत्कुर्यात्। को ममाश्रूणि प्रमृज्याऽस्पष्ट वर्णाक्षरैर्वचनै-र्मामाश्वासयिष्यति। अहं कमवलोक्य दुःखं विस्मरेयम्। वत्स! त्वं बुभुक्षाकुलितोऽपि 'अहं बुभुक्षितः' इति मां कदापि नाऽवोचः। मां विना च कदापि नाऽभक्षयः।

अमावस्या की भीषण काले वर्ण की विकराल रात्रि सभी दिशाओं में गाढ़तम अन्धकार से व्याप्त थी। शृगाल, भेड़िये तथा भालुओं की कर्ण-कर्कश भयानक आवाजें सुनाई दे रही थी। काली कजराली घनघोर घटाएँ आकाश को चारों ओर से व्याप्त कर रही थी। ऐसी भीषण अन्धैरी रात्रि में तारामती अपने मृत पुत्र रोहित को लेकर अकेली ही थी। रोहित के शव को गोद में लेकर विलाप करती हुई तारामती करुण स्वर में इस प्रकार बोली-पुत्र रोहित! उठो! देखो तुम्हारी इस अभागिनी माता को जो तुम्हारे लिए आक्रोश कर रही है। कैसे चुपचाप प्रगाढ़ निद्रा को प्राप्त हो गये हो। हे वत्स! तुम तो दिनरात विविध वृत्तान्तों से माता के दुःखों को दूर करके माता को आश्वासित करते थे। आज क्यों निष्करुण हो गये हो। किसलिए चुपचाप स्थित हो। तुम्हार मुख वैसे ही आभा वाला है जैसा मेरी गोद में सोता हुआ रहता था। फिर भी किसलिए कुछ भी नहीं बोलते हो। किसलिए माता से रुष्ट हो। अब मुझे कौन आश्वासित करेगा। आज तक बड़ी आशा थी कि तुम पिता को दुःख से छुड़ा दोगे। अब कौन मेरी आशा को पूर्ण करेगा। कौन मुझे अब माता, माता पुकारेगा। कौन मेरे आँसुओं को पूँछकर अस्पष्ट वर्णाक्षर वाले वचनों से मुझे आश्वासित करेगा। मैं किसको देखकर दुःख का विस्मरण करूँगी। हे पुत्र! तुमने भूख से व्याकुल होने पर भी 'मैं भूखा हूँ' ऐसा मुझे कभी नहीं कहा। मेरे बिना कभी भी तुमने नहीं खाया।

पुत्र! अद्य मया तव पितुः पुत्ररत्नं हारितम्, इत्येवं विलपन्ती तारामती मूर्च्छिताऽभवत्। तारामत्याः करुणक्रन्दनं श्रुत्वा तत्र सम्मीलिताः समीपवर्तिनो वन्याः पशुपक्षिणोऽपि करुणार्द्रचेतस आहारादिकं परित्यज्य तारामतीमन्वकुर्वन्। परं रोहितो न पुनर्जीवितं प्राप्नोत्।

हे पुत्र! आज मेरे द्वारा तुम्हारे पिता के पुत्ररत्न को हारा गया है। इस प्रकार विलाप करती हुई तारामती मूर्च्छित हो गई। तारामती के करुण क्रन्दन को सुनकर वहाँ एकत्रित वन के पशु-पक्षी भी करुणा से भीगे चित्त वाले होकर आहारादि को त्यागकर तारामती का अनुसरण करने लगे। किन्तु रोहित जीवित न हुआ।

(क्रमशः)

अनुवादक-प्रकाशचन्द जैन

हिन्दी-खण्ड

स्थानाङ्गसूत्र-एक परिचय

आचार्यप्रवर श्री हस्तीमलजी म.सा.

द्वादशाङ्गी में स्थानाङ्गसूत्र का तीसरा स्थान है। समवायांग एवं नन्दीसूत्र में जो आगमों का परिचय दिया गया है उसमें स्थानाङ्गसूत्र का परिचय निम्नलिखित रूप में उल्लिखित है-

स्थानांग नामक तीसरे अङ्ग में स्वसमय, परसमय, स्व-पर उभय समय, जीव, अजीव, जीवाजीव, लोक, अलोक और लोकालोक की स्थापना की गई है। इसमें जीवादिक पदार्थों का उनके द्रव्य, गुण, क्षेत्र, काल और पर्याय की दृष्टि से विचार किया गया है। इसमें एक स्थान, दो स्थान, यावत् दश स्थान से दशविध वक्तव्यता की स्थापना तथा धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय आदि द्रव्यों की प्ररूपणा की गई है। स्थानांग में वाचनाएँ, अनुयोगद्वार, प्रतिपत्तियाँ, वेष्टक, निर्युक्तियाँ और संग्रहणियाँ- ये प्रत्येक संख्यात-संख्यात हैं। अंग की अपेक्षा यह तीसरा अंग है। इसमें एक श्रुतस्कन्ध, दश अध्ययन, 21 उद्देशनकाल, 21 समुद्देशनकाल, 72000 पद, अक्षर संख्यात, गम-अनन्त, पर्याय अनन्त तथा इसकी वर्णन परिधि में असंख्यात त्रस और अनन्त स्थावर हैं। वर्तमान में उपलब्ध इस सूत्र का पाठ 3770 श्लोक परिमाण है।

स्थानांग एवं समवायांग-ये दो सूत्र अन्य दश अंगों से भिन्न प्रकार के संकलनात्मक अंग हैं। इन दोनों अंगों में जैन प्रवचनसम्मत तथा लोकसम्मत तथ्यों के रूप में संसार की प्राय: सभी वस्तुओं का संख्या के क्रम से कोश-शैली में संग्रहात्मक निरूपण किया गया है। अगणित तथ्यों को स्थायी रूप से चिरकाल तक स्मृतिपटल पर अंकित रखने और अथाह ज्ञानार्णव में से अभीष्ट तथ्य को तत्काल खोल निकालने की अद्भुत क्षमताशालिनी जिस शैली का इन दो अंगों की रचना में उपयोग किया गया है वह वस्तुत: अद्वितीय और बड़ी ही उपयोगी शैली है।

स्थानांग में संख्याक्रम से द्रव्य, गुण एवं क्रियाओं आदि का निरूपण किया गया है। इसके प्रथम प्रकरण में एक-एक, दूसरे में दो-दो, इस अनुक्रम से अन्तिम प्रकरण में दश-दश वस्तुओं का वर्णन किया गया है। उसी संख्या के आधार पर

इसके प्रकरणों का नाम प्रथम स्थान, द्वितीय स्थान और इसी अनुक्रम से अन्तिम प्रकरण का नाम दशम स्थान रखा गया है।

जिस प्रकरण में तत्संख्याविषक निरूपणीय सामग्री का प्राचुर्य हो गया, वहाँ उस प्रकरण के उपविभाग कर दिये गये हैं। दूसरे, तीसरे तथा चौथे-इन तीनों प्रकरणों के, प्रत्येक के चार-चार उपविभाग और पाँचवें प्रकरण के तीन उपविभाग हैं। शेष स्थानों में पृथक् कोई उपविभाग नहीं है। 15 उद्देशकों और 6 अध्ययनों के, प्रत्येक के एक-एक उद्देशनकाल के हिसाब से स्थानांग सूत्र के कुल मिलाकर 21 उद्देशनकाल और 21 ही समुद्देशनकाल होते हैं।

प्रस्तुत सूत्र में भगवान महावीर के निर्वाण पश्चात् दूसरी से छठी शताब्दी तक के अवान्तर काल की कुछ घटनाओं का उल्लेख भी है।

उसे देखकर कुछ विद्वानों को इस प्रकार की भ्रान्ति होती है कि स्थानांग सूत्र की रचना गणधरों द्वारा नहीं अपितु किसी अर्वाचीन आचार्य द्वारा की गई है। अपने इस अभिमत की पुष्टि में वे यह तर्क प्रस्तुत करते हैं-'स्थानांगसूत्र के नौवें स्थान में गोदास से कोडिन्न तक के 9 गणों का उल्लेख है पर वस्तुत: वे गण भगवान महावीर के निर्वाण से लगभग 200 वर्ष पश्चात् अस्तित्व में आये। इसी प्रकार 7वें स्थान में जो 7 निह्नवों का उल्लेख है उनमें रोहगुप्त नामक निह्नव वीर निर्वाण की छठी शताब्दी के अन्त में हुआ है। भगवान महावीर के निर्वाण से लगभग 200 और 600 वर्षों पश्चात् घटित हुई घटनाओं का स्थानांग में उल्लेख होना यह प्रमाणित करता है कि इसकी रचना भगवान महावीर की विद्यमानता में गणधरों द्वारा नहीं अपितु भगवान के निर्वाण से 600 वर्ष पश्चात् किन्हीं आचार्यों द्वारा की गई है।

किन्तु इन उल्लेखों के आधार पर यह मान्यता बना लेना कि स्थानांग सूत्र की रचना ही किसी परवर्ती आचार्य ने की है, किसी भी दशा में न्यायोचित नहीं कहा जा सकता। द्वादशांगी के विलुप्त हो जाने की मान्यता अभिव्यक्त करने वाली दिगम्बर परम्परा भी इस तथ्य को स्वीकार करती है कि द्वादशांगी का अर्थत: उपदेश भगवान महावीर ने दिया और गणधरों ने उसी को शब्द रूप में ग्रथित किया है। ऐसी स्थिति में किसी पश्चाद्वर्ती घटना का स्थानांग में उल्लेख देखकर बिना विचारे ही यह कह देना कि यह गणधर की कृति नहीं किसी पश्चाद्वर्ती आचार्य की कृति है-कदापि न्यायसंगत प्रतीत नहीं होता। इस पर गम्भीरतापूर्वक विचार करने की

आवश्यकता है। प्रथम तो यह विचारणीय है कि अतिशयज्ञानी सूत्रकार ने कतिपय भावी घटनाओं की पूर्वसूचना बहुत पहले ही दे दी हो तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं जैसे कि स्थानांग के नवम स्थान में आगामी उत्सर्पिणी काल के भावी तीर्थंकर महापद्म का चरित्रचित्रण किया गया है। दूसरी विचारणीय बात यह है कि श्रुति-परम्परा से चला आने वाला आगमपाठ स्कन्दिलाचार्य और देवर्द्धिगणी द्वारा आगमवाचना में स्थिर किया गया। सम्भव है उस स्थिरीकरण के समय मूलभावों को यथावत् सुरक्षित रखते हुए भी उसमें प्रसंगोचित्त समझकर कुछ आवश्यक पाठ बढ़ाया गया हो। यह भी सम्भव है कि भविष्यकाल की घटनाओं के रूप में जिन घटनाओं का आगम में उल्लेख किया गया था, आगमवाचना के समय तक वे घटनाएँ घटित हो चुकने के कारण भावी घटनाएँ न रहकर भूत की घटनाएँ बन चुकी थीं अत: उन्हें यथावत् विषय की घटनाओं के रूप में ही उल्लिखित किये जाने की अवस्था में कहीं भ्रान्ति न हो जाय इस दृष्टि से आगमवाचना के समय सर्वसम्मति से संघ द्वारा भविष्यकाल की क्रिया के स्थान पर भूतकाल की क्रिया का प्रयोग कर दिया गया हो। शासनहित में सामायिक संवर्द्धन करने का गीतार्थ आचार्यों को पूर्ण अधिकार था।

ऐसी स्थिति में यह शंका करना कि स्थानांग गणधरों द्वारा रचित मौलिक नहीं है-यह सर्वथा अदूरदर्शितापूर्ण एवं अनुचित है।

स्थानांग के 10 स्थानों में क्रमश: जो विवरण दिया गया है उसको संक्षेप में यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है-

(1) प्रथम स्थान में आत्मा, अनात्मा, धर्म, अधर्म, बन्ध और मोक्ष आदि को सामान्य दृष्टि से एक बतलाया गया है। गुणधर्म एवं स्वभाव की समानता के कारण अनेक भिन्न-भिन्न पदार्थों को एक बताया गया है। आर्द्रा, चित्रा और स्वाति का एक-एक तारा बताकर प्रकरण पूरा किया गया है।

(2) दूसरे स्थान में बोध की सुलभता के लिए जीवादि पदार्थों के दो-दो प्रकार किये हैं। जैसे आत्मा के दो प्रकार-सिद्ध और संसारी। धर्म के दो प्रकार-अगार धर्म, अनगार धर्म अथवा श्रुतधर्म, चारित्रधर्म। बन्ध के दो प्रकार-रागबन्ध एवं द्वेषबन्ध। वीतराग के दो प्रकार-उपशान्त कषाय और क्षीण कषाय। काल के दो प्रकार-अवसर्पिणी काल एवं उत्सर्पिणी काल। राशि दो-जीवराशि तथा अजीव राशि। दो प्रकार के मरण-बालमरण और पण्डितमरण।

(3) तीसरे स्थान में कुछ और स्थूल दृष्टि से विचार किया गया है। जैसे-दृष्टि तीन-सम्यग्दृष्टि, मिथ्यादृष्टि और मिश्रदृष्टि। तीन वेद-स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद। पक्ष तीन-धर्मपक्ष, अधर्मपक्ष और धर्माधर्म पक्ष। लोक तीन-ऊर्ध्वलोक, मध्यलोक और अधोलोक। आहार के तीन प्रकार-सचित्ताहार, अचित्ताहार और मिश्राहार। तीन प्रकार का परिग्रह-सचित्त परिग्रह-दास-दासी-पशु आदि, अचित्त परिग्रह-सोना, चाँदी आदि, मिश्र परिग्रह-आभूषणयुक्त दासदासी। अशुभ दीर्घायु के कारण-प्राणघात करना, मृषा बोलना तथा तथारूप श्रमण की हीलना, निन्दा तथा तिरस्कार करना एवं अमनोज्ञ अशनादि से प्रतिलाभ देना।

(4) चौथे स्थान में स्त्री-पुरुष, आचार्य श्रावक आदि के चार-चार विकल्प कर सैकड़ों प्रकार की चौभंगियाँ बताई गई हैं। जैसे-**चार पुरुष-**(1) रूपवान-गुणहीन, (2) गुणवान-रूपहीन, (3) रूप और गुण दोनों से रहित, (4) रूप और गुण उभय-सम्पन्न। **चार प्रकार की नारियाँ-**(1) रूपवती पर शीलविहीन, (2) शीलवती पर रूपविहीन, (3) रूप और शील उभयसम्पन्न, (4) रूप और शील उभयहीन। चार प्रकार के पुरुष-(1) कार्य करे पर मान नहीं, (2) मान करे पर कार्य नहीं, (3) कार्य भी करे और मान भी करे, (4) न कार्य करे, न मान करे।

(5) पाँचवें स्थान में जीवादि पदार्थों को पाँच प्रकार से बतलाया है। जीव के पाँच प्रकार-(1) एकेन्द्रिय, (2) द्वीन्द्रिय, (3) त्रीन्द्रिय, (4) चतुरिन्द्रिय,(5) पंचेन्द्रिय। विषय पाँच-(1) शब्द, (2) रूप, (3) गन्ध, (4) रस, (5) स्पर्श विषय। इन्द्रियाँ पाँच-(1) श्रवणेन्द्रिय, (2) चक्षु इन्द्रिय, (3) घ्राणेन्द्रिय, (4) रसनेन्द्रिय, (5) स्पर्शन-इन्द्रिय। जीव के पाँच गुण-(1) उत्थान, (2) कर्म, (3) बल, (4) वीर्य, (5) पुरुषाकार-पराक्रम। अजीव के पाँच प्रकार-(1) धर्मास्तिकाय, (2) अधर्मास्तिकाय, (3) आकाशास्तिकाय, (4) पुद्गलास्तिकाय, (5) कालद्रव्य। आस्रव के पाँच प्रकार-(1) मिथ्यात्व, (2) अविरति, (3) प्रमाद, (4) कषाय, (5) अशुभयोग। पाँच प्रकार का मिथ्यात्व-(1) आभिग्रहिक, (2) अनभिग्रहिक, (3) आभिनिवेशिक, (4) सांशयिक, (5) अनाभोग।

(6) छठे स्थान में जीवादि पदार्थों का छह-छह की संख्या में वर्णन किया गया है। जैसे-जीव छह प्रकार का-(1) पृथ्वीकायिक, (2) अप्कायिक, (3) तेजस्कायिक, (4) वायुकायिक, (5) वनस्पतिकायिक, (6) त्रसकायिक जीव। छह प्रकार लेश्या (मनोवृत्ति) वाला-(1) कृष्ण लेश्या, (2) नील लेश्या, (3)

कापोत लेश्या, (4) तेजो लेश्या, (5) पद्म लेश्या, (6) शुक्ल लेश्या। आहार-ग्रहण के छह कारण, छह प्रकार का बाह्य तप, छह प्रकार का आभ्यन्तर तप।

(7) सातवें स्थान में पूर्वोक्त पदार्थों का सात की संख्या में वर्णन किया गया है। जैसे-जीव के सात प्रकार-(1) सूक्ष्म एकेन्द्रिय, (2) बादर एकेन्द्रिय, (3) द्वीन्द्रिय, (4) त्रीन्द्रिय, (5) चतुरिन्द्रिय, (6) असंज्ञी पंचेन्द्रिय, (7) संज्ञी पंचेन्द्रिय। सात भय के स्थान-(1) इस लोक का भय, (2) परलोक का भय, (3) आदान भय, (4) आकस्मिक भय, (5) अयश भय, (6) आजीविका भय, (7) मरण भय। सप्त स्वर का स्वर मण्डल में विस्तार के साथ वर्णन किया गया है। इसमें जमालि आदि सात निन्हवों का भी उल्लेख किया गया है।

(8) आठवें स्थान में आत्मा आदि का आठ संख्या से वर्णन किया गया है। जैसे-आत्मा आठ प्रकार का-(1) द्रव्य, (2) कषाय, (3) योग, (4) उपयोग, (5) ज्ञान, (6) दर्शन, (7) चारित्र, (8) वीर्य आत्मा। आठ प्रकार का मद स्थान-(1) जातिमद, (2) कुलमद, (3) बलमद, (4) रूपमद, (5) लाभमद, (6) तपमद, (7) श्रुतमद, (8) ऐश्वर्यमद स्थान। आठ प्रकार की समिति-(1) ईर्या समिति, (2) भाषा समिति, (3) एषणा समिति, (4) आदान निक्षेपणा समिति, (5) परिष्ठापना समिति, (6) मन समिति, (7) वाक्समिति, (8) काय समिति।

(9) नौवें स्थान में प्रत्येक पदार्थ का नौ की संख्या में वर्णन किया गया है। इसमें नवतत्त्व, नव ब्रह्मचर्य-गुप्ति और चक्रवर्ती की नौ निधियों का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। अन्न पुण्य आदि पुण्य के नौ प्रकार। नौ पाप के स्थान-(1) प्राणातिपात, (2) मृषावाद, (3) चौर्य, (4) अब्रह्म, (5) परिग्रह, (6) क्रोध, (7) मान, (8) माया, (9) लोभ। नवकोटि प्रत्याख्यान-(1-3) हिंसा करना नहीं, कराना नहीं, करने वाले को भला जानना नहीं, (4-6) पकाना नहीं, पकवाना नहीं और पकाने वाले का अनुमोदन करना नहीं, (7-9) न खरीदना, न खरीदवाना और न खरीदने वाले का अनुमोदन करना।

(10) दसवें स्थान में प्रत्येक वस्तु का दस-दस की संख्या से वर्णन किया गया है। धर्म के दस प्रकार-(1) क्षान्ति, (2) मुक्ति-निर्लोभता, (3) आर्जव, (4) मार्दव, (5) लाघव, (6) सत्य, (7) संयम, (8) तप, (9) त्याग, (10) ब्रह्मचर्यवास। दस प्रकार का धर्म। दस प्रकार का दान-(1) अनुकम्पा दान, (2) संग्रहदान, (3) भयदान, (4) शोकदान, (5) लज्जादान, (6) अहंकारदान, (7)

अधर्मदान, (8) धर्मदान, (9) भविष्य के लाभ हेतु दान, (10) उपकार के बदले कृतज्ञतादान। दस प्रकार का सुख-(1) शरीर की निरोगता, (2) दीर्घ आयु, (3) आढ्यता, (4) शब्द एवं रूप का कामसुख, (5) इष्ट गन्ध, इष्ट रस और इष्ट स्पर्श रूप भोगसुख, (6) सन्तोष, (7) आवश्यकता की पूर्ति, (8) सुखयोग (मानसिक), (9) निष्क्रमण-त्याग-ग्रहण, (10) निराबाध सुख मोक्ष।

इसमें दस प्रकार की लोक स्थिति, क्रोधोत्पत्ति के दस कारण, अभिमान के दस कारण, दस प्रकार की समाधि, आलोचना के दस दोष, दस प्रकार का प्रायश्चित्त, सुकाल-दुकाल के दस-दस लक्षण, दस प्रकार के कल्पवृक्ष, शतायु पुरुष की दस दशा, ज्ञानवृद्धि के दस नक्षत्र और दस आश्चर्यों का उल्लेख किया गया है।

लघुकथा

एक गुरु के दो शिष्य थे। एक पढ़ाई में बहुत तेज और विद्वान् था और दूसरा फिसड्डी। पहले शिष्य की हर जगह प्रशंसा और सम्मान होता था। जबकि दूसरे शिष्य की लोग उपेक्षा करते थे। एक दिन रोष में दूसरा शिष्य गुरुजी के पास जाकर बोला-'गुरुजी! मैं उसके पहले से आपके पास विद्याध्ययन कर रहा हूँ। फिर भी आपने उसे मुझसे अधिक शिक्षा दी।'

गुरुजी थोड़ी देर मौन रहने के बाद बोले-'पहले तुम एक कहानी सुनो। एक यात्री कहीं जा रहा था। रास्ते में उसे प्यास लगी। थोड़ी दूर पर उसे एक कुआँ मिला। कुएँ पर बाल्टी तो थी लेकिन रस्सी नहीं थी। इसलिए वह आगे बढ़ गया। थोड़ी देर बाद एक दूसरा यात्री उस कुएँ के पास आया। कुएँ पर रस्सी न देखकर उसने इधर-उधर देखा। पास में ही बड़ी-बड़ी घास उगी थी। उसने घास उखाड़कर रस्सी बँटना प्रारम्भ किया। थोड़ी देर में एक लम्बी रस्सी तैयार हो गयी। जिसकी सहायता से उसने कुएँ से पानी निकाला और अपनी प्यास बुझा ली। अब तुम मुझे यह बताओ कि प्यास किस यात्री को ज्यादा लगी थी ?' शिष्य ने तुरन्त उत्तर दिया-'दूसरे यात्री को।'

गुरुजी फिर बोले-'प्यास दूसरे यात्री को ज्यादा लगी थी। यह हम इसलिए कह सकते हैं क्योंकि उसने प्यास बुझाने के लिए परिश्रम किया। उसी प्रकार तुम्हारे सहपाठी में ज्ञान की प्यास है। जिसे बुझाने के लिए वह कठिन परिश्रम करता है। जबकि तुम ऐसा नहीं करते हो।' शिष्य को अपने प्रश्न का उत्तर मिल चुका था। वह भी शिक्षा प्राप्त कर कठिन परिश्रम में जुट गया।

स्थानाङ्गसूत्र में स्थविर-एक चिन्तन

-उपाध्याय श्री रमेशमुनिजी शास्त्री

किसी भी धर्म के सुचिर-जीवन का मूलभूत आधार उसका वाङ्मय है। वाङ्मय में वे त्रिकालाबाधित सिद्धान्त सम्पूर्णत: सुरक्षित हैं, जिन पर धर्मदर्शन का सुरम्य-प्रासाद अवस्थित है। यह सर्वथा और सर्वदा परिस्पष्ट है कि जैनधर्म का मौलिक साहित्य आगमों के रूप में विद्यमान है। आगम विशिष्ट ज्ञान के स्पष्टत: सूचक हैं, जो प्रत्यक्ष अथवा तत्सदृश प्रबोध से अनुप्राणित हैं, अनुप्रीणित हैं। अन्य भाषा शैली में ऐसा भी कहा जा सकता है कि आवश्यक हेतुओं अथवा कर्मों के अपगम से जिनका ज्ञान सर्वथा निर्मल है, विशुद्ध हो गया है, ऐसे आप्त पुरुषों द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों के संकलन रूप को आगम की अभिधा से अभिहित किया है। जैनागमों का अंग, उपांग आदि के रूप में जो विभाजन अथवा वर्गीकरण हुआ है, उसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है।

यह परिपुष्ट है कि कतिपय दिग्गज विद्वानों ने जैनागमों के सन्दर्भ में 'श्रुतपुरुष' की महनीय संकल्पना की है। जैसे किसी पुरुष का शरीर अनेक अंगों और उपांगों का समवाय है, उसी के समान श्रुतपुरुष के भी अंग हैं। श्रुतपुरुष के दो चरण, दो जँघाए, दो उरू, दो गात्रार्ध अर्थात् शरीर के आगे का भाग, शरीर के पीछे का भाग, दो भुजाएँ, गर्दन एवं मस्तक, यों बारह अंग होते हैं। इनमें श्रुतपुरुष के अंगों में जो प्रविष्ट हैं, सन्निविष्ट हैं, अंगत्वेन विद्यमान हैं, वे आगम श्रुतपुरुष-अंग रूप में अभिहित है, अंग आगम है। इस परिभाषा के अनुसार निम्नांकित द्वादश आगम श्रुतपुरुष के अंग हैं। (1) आचार (2) सूत्रकृत (3) स्थान (4) समवाय (5) व्याख्याप्रज्ञप्ति (6) ज्ञातृधर्मकथा (7) उपासकदशा (8) अन्तकृतदशा (9) अनुत्तरौपपातिकदशा (10) प्रश्नव्याकरण (11) विपाक (12) दृष्टिवाद।

यह एक महत्त्वपूर्ण तथ्य है कि ये वे आगम हैं, जिनके विषय में ऐसी स्पष्टत: धारणा है कि अर्थरूप में ये तीर्थंकर प्ररूपित हैं, शब्दरूप में गणधर-सग्रन्थित हैं, यों इनका उद्गम तत्त्वत: जो सीधा सम्बन्ध है, वह तीर्थंकर से है। जैसाकि पूर्व में इंगित है कि जिन आगमों के सन्दर्भ में श्रोताओं का, पाठकों का तीर्थंकर प्ररूपित के साथ गणधर-सुग्रथित शाब्दिक माध्यम द्वारा सीधा सम्बन्ध संस्थापित होता है, वे आगम अंगप्रविष्ट के अन्तर्गत आ जाते हैं, उनके अतिरिक्त आगम अंगबाह्य के

रूप में मान्य हैं। यद्यपि अंगबाह्य आगमों के कथ्य भी अंगों के अनुरूप होते हैं किन्तु प्रवाह-परम्परया वे तीर्थंकर द्वारा भाषित से सीधे रूप से सम्बद्ध कदापि नहीं है। इन अंगबाह्यों में द्वादश उपांग ऐसे हैं, जिनकी सूची इस प्रकार से प्रतिपादित है। जिन आगमों की अभिधा 'उपांग' के रूप में हुई है, वे स्थविर रचित हैं, जो इस प्रकार हैं-(1) औपपातिक (2) राजप्रश्नीय (3) जीवाजीवाभिगम (4) प्रज्ञापना (5) सूर्यप्रज्ञप्ति (6) जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति (7) चन्द्रप्रज्ञप्ति (8) निरयावलिका अथवा कल्पिकाएँ (9) कल्पावतंसिका (10) पुष्पिका (11) पुष्पचूला (12) वृष्णिदशा।

यह कथन पूर्णत: प्रगट है कि प्रत्येक अंग का एक उपांग होता है। अंग और उपांग में आनुरूप्य हो, यह अभिप्रेत है, अथवा वांछनीय है। इसके अनुसार अंग-आगमों तथा उपांग-आगमों में विषय-सादृश्य होना चाहिए। उपांग एक प्रकार से अंगों के पूर्णत: पूरक अपेक्षित हैं। अंगों तथा उपांगों का तुलनात्मक दृष्टिकोण से अध्ययन अथवा पारायण कर लेने पर ऐसा प्रतीत होता है कि ऐसी स्थिति नहीं है। उनमें विषयवस्तु, विवेचन, विश्लेषण आदि की स्पष्ट रूप से पारस्परिक संगति नहीं है।

यह सूर्य के सदृश सुस्पृष्ट है कि द्वादशांगी में स्थानाङ्ग का तृतीय स्थान है। प्रस्तुत शब्द 'स्थान' एवं अंग इन दो शब्दों के योग से निष्पन्न है। 'स्थान' शब्द अनेकार्थी है। इस आगम में एक स्थान से लेकर दस स्थान तक जीव और पुद्गल के बहुविध भाव का समीचीन वर्णन-विवरण प्राप्त होता है। एतदर्थ इसका नाम 'स्थान' रखा गया है। जिसका स्वरूप स्थापित किया जाता है, ज्ञापित किया जाता है, वह 'स्थान' है। जिसमें जीव, अजीव, पुण्य, पाप आदि का व्यवस्थित रूप से प्रतिपादन किया जाता है, वह 'स्थान' कहलाता है। 'स्थान' शब्द का अन्य अर्थ 'मान' अर्थात् 'परिमाण' भी है। प्रस्तुत आगम में एक से लेकर दस तक संख्या वाले पदार्थों का समुल्लेख है, अतएव इसको 'स्थान' कहा जाता है। 'स्थान' शब्द का अपर अर्थ 'उपयुक्त' भी है। इस आगम में तत्त्वों का क्रम से उपयुक्त चुनाव किया है। 'स्थान' शब्द का वाच्यार्थ 'विश्रान्ति स्थल' भी है और 'अंग' का अर्थ 'विभाग' भी है। इसमें संख्या क्रम से जीव पुद्गल प्रभृति की स्थापना की गई है। अतएव इसका नाम 'स्थान' अथवा 'स्थानाङ्ग' है।

प्रस्तुत आगम के तृतीय स्थान के द्वितीय उद्देशक में तीन स्थविर का वर्णन है तथा दशम स्थान में दश स्थविर का विवरण प्राप्त होता है, वह इस रूप में वर्णित है।

(1) ग्राम स्थविर-ग्राम का व्यवस्थापक, ज्येष्ठ, वृद्ध और ज्ञानी पुरुष। (2)

नगर स्थविर-नगर का व्यवस्थापक, ज्येष्ठ, वृद्ध और ज्ञानी पुरुष। (3) राष्ट्र स्थविर-राष्ट्र का व्यवस्थापक, ज्येष्ठ, वृद्ध और ज्ञानी पुरुष। (4) प्रशास्तृ पुरुष-प्रशासन करने वाला प्रधान अधिकारी। (5) कुल स्थविर-लौकिक पक्ष में कुल का ज्येष्ठ पुरुष, वृद्ध, लोकोत्तर पक्ष में एक आचार्य की शिष्य परम्परा में ज्येष्ठ संयमी साधु। (6) गण स्थविर-लौकिक पक्ष में गणराज्य का प्रधान पुरुष, लोकोत्तर पक्ष में साधुगण में ज्येष्ठ साधु। (7) संघ स्थविर-लौकिक पक्ष में राज्य, संघ का प्रधान पुरुष तथा लोकोत्तर पक्ष में साधुसंघ का प्रधान साधु। (8) जाति स्थविर-साठ वर्ष या इससे अधिक आयु वाला वृद्ध। (9) श्रुत स्थविर-स्थानाङ्ग और समवायाङ्ग श्रुत का धारक साधु। (10) पर्याय स्थविर-बीस वर्ष अथवा इससे अधिक दीक्षा पर्याय से सम्पन्न साधु।

यह अति स्पष्ट है कि वैयक्तिक, सामष्टिक, श्रमण जीवन का सम्यक् निर्वाह, धार्मिक प्रभावना, ज्ञान की आराधना तथा साधना का विकास, संगठन एवं अनुशासन की दृढ़ता आदि के निमित्त से श्रमण संघ में 'स्थविर' पद का होना नितान्त अपेक्षित है। उपर्युक्त स्थविर के दस भेदों में अन्तिम तीन भेद अर्थात् जाति स्थविर, श्रुत स्थविर तथा पर्याय स्थविर का सम्बन्ध विशेष रूपेण श्रमणजीवन से अनुस्यूत है।

इसी सन्दर्भ में यह ज्ञातव्य विषय है कि 'स्थविर' शब्द जैन परम्परा का एक पारिभाषिक शब्द है। प्रस्तुत शब्द का सामान्य अर्थ 'प्रौढ़' अर्थात् वृद्ध भी होता है। जो जन्म से अर्थात् आयुकाल से स्थविर होते हैं, वे जाति स्थविर हैं। उनके लिए साठ वर्ष की आयु का समुल्लेख है। कोषकार के अभिमत में सत्तर से नब्बे तक की आयु का पुरुष स्थविर कहा जाता है। तदनन्तर उसकी संज्ञा वर्षीयस् अथवा वर्षीयान् होती है। स्त्री के लिये उन्होंने सत्तर के स्थान पर पचास वर्ष की आयु का निर्देश किया है। जो समवाय आदि अंग एवं शास्त्र के तलस्पर्शी विद्वान और पारगामी पण्डित हैं, वे श्रुत स्थविर के रूप में मान्य हैं, उनके लिये आयु की इयत्ता का कोई निर्बन्ध नहीं है। वे लघु अर्थात् छोटी आयु के भी हो सकते हैं। पर्याय स्थविर वे होते हैं, जिनका दीक्षाकाल प्रलम्ब होता है, इसके लिये बीस वर्ष की दीक्षा पर्याय के होने का समुल्लेख है।

उपर्युक्त तीन प्रकार के स्थविरों का जो विवेचन है, उसके विषय में गहराई से विचारणा करने से अतिस्पष्ट हो जाता है कि जिनकी आयु भी परिपक्व होती है, उन्हें जीवन के अनेक प्रकार के अनुभव होते हैं। वे जीवन में बहुत प्रकार के

अनुकूल-प्रतिकूल, प्रिय-अप्रिय घटनाक्रम देखे हुए होते हैं। एतदर्थ वे विपरीत परिस्थितियों में भी विचलित नहीं होते हैं, स्थिर बने रहते हैं। स्थविर शब्द वस्तुवृत्या स्थिरता का भी द्योतक है। जिनका श्रुतानुशीलन एवं शास्त्राध्ययन विशाल होता है, वे अपने विपुल ज्ञान के द्वारा जीवन-सत्त्व के परिज्ञाता होते हैं, शास्त्र द्वारा उनके जीवन में स्थिरता एवं दृढ़ता का सहज संगम भी दृष्टिगत हो जाता है। जिनका दीक्षा-पर्याय संयम जीवितव्य प्रलम्ब होता है, उनके जीवन में धार्मिकता विषयक परिपक्वता, चारित्रिक बल, आत्मिक ओज, एतत्प्रसूत स्थिरता सहज ही प्रस्फुटित हो जाती है।

इस प्रकार के स्थिरतामय जीवन के धनी श्रमणों की अपनी महिमा और अपनी गरिमा है। वे वास्तव में दृढ़धर्मा होते हैं। संघ के श्रमणों को धर्म में, साधना में, संयम में सुस्थिर बनाये रखने के लिए सदैव जागरूक तथा प्रयत्नशील रहते हैं। जो साधु लौकिक एषणावश सांसारिक कार्य-कलापों में प्रवृत्त होने लगते हैं, जो संयम-पालन में, ज्ञानानुशीलन में कष्ट का अनुभव करते हैं, उन्हें जो श्रमण ऐहिक तथा पारलौकिक हानि अथवा दु:ख बतलाकर संयम-जीवन में स्थिर करते हैं, वे स्थविर कहे जाते हैं। स्थविर वस्तुत: मोक्ष के अभिलाषी, कोमल प्रकृति के धनी होते हैं। ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र की आराधना में उपादेय-अनुष्ठानों को जो श्रमण परिहीन करता है, उनके पालन में अस्थिर अर्थात् चलायमान बनता है, वे स्थविर उस श्रमण को ज्ञान, दर्शन और चारित्र की याद दिलाते हैं। पतनोन्मुख श्रमणों को वे स्थविर श्रमण पारलौकिक हानियाँ दिखलाकर एवं बतलाकर मोक्ष के मार्ग में स्थिर कर देते हैं, संयम की साधना में निष्ठाशील बनाते हैं। जो आत्म-शक्ति से सम्पन्न दृढ़चेता श्रमण अस्थिर साधुओं को तप-संयम, श्रुताराधना तथा आत्म-साधना मूलक अनुष्ठेय-सत्कार्यों में सुस्थिर बनाता है, वह शत-प्रतिशत स्वरूप में सच्चा और अच्छा स्थविर श्रमण के रूप में वन्दनीय और अर्चनीय है।

सारपूर्ण भाषा में यही कहा जा सकता है कि जैन-परम्परा में 'स्थविर' के विषय में मर्यादा का भी निर्धारण है। ज्ञान, वय और दीक्षा को लेकर एक संविधान दृष्टिगत है। स्थविर श्रमण को 'भगवान' की उपमा से उपमित किया है, स्थविर के समकक्ष 'स्थितप्रज्ञ' शब्द का प्रयोग भी पुन: पुन: प्रेक्षनीय है। इन दोनों शब्दों के सन्दर्भ में तुलनात्मक दृष्टिकोण से अनुशीलन और परिशीलन करना अतिशय श्रेयस्कर सिद्ध होगा।

स्थानाङ्गसूत्र में कलाएँ

श्रद्धेय श्री अशोकमुनिजी म.सा.

(यह लेख वर्ष 2016 में रायचूर में व्याख्यात्री महासती श्री ज्ञानलताजी म.सा. की सेवा में आयोजित संगोष्ठी में डॉ. अशोकजी कवाड़, चैन्नई द्वारा प्रस्तुत किया गया। रत्नसंघ में दीक्षित होने के पश्चात् वर्तमान में जिनका नाम श्रद्धेय श्री अशोकमुनिजी म.सा. है।)

संसार के या मोक्ष के प्रत्येक कार्य को करने के लिए कला चाहिए। कला से किया गया सामान्य से सामान्य कार्य भी विशेष आकर्षक बनता है।

कला एक ऐसा माध्यम है जो *मिट्टी को कलश* का सौभाग्य प्रदान करती है, *पत्थर को प्रतिमा* बना देती है, कला एक ऐसा सबल माध्यम है जो *भावनाओं की जनक* होती है, जगत को सुन्दरता प्रदान करती है।

इस अवसर्पिणी काल में हम सभी के आस्था के केन्द्र भगवान आदिनाथ ने अनेक कलायें सिखायीं। इस लोक में आज तक जितने भी तीर्थङ्कर भगवान हुए थे, हो रहे हैं, और होंगे सभी की वाणी समान अर्थ देने वाली होती है। बाहर संसार में 'आर्ट ऑफ लिविंग' आदि का प्रशिक्षण दिया जाता है परन्तु आगम में तो आर्ट ऑफ लिविंग, आर्ट ऑफ डाईंग, आर्ट ऑफ प्यूरेटी, आर्ट ऑफ सोलुसन आदि अनेक कलायें सिखाई हैं।

''कला बहतर जगत में, ता में दो सरताज।
एक जीव आजीविका, दूजी खेवा पार।।''

हम स्थानाङ्गसूत्र में आयी हुई कुछ कलाओं का स्वाध्याय करेंगे-

(1) सुलभ बोधिता प्राप्त करने की कला (Art of Being Gifted in Jinshashan)

'जिनधर्म' की प्राप्ति को सुलभ बनाने वाले अनन्त पुण्य कर्मों के उपार्जन के सूत्र ठाणांग सूत्र के पाँचवें ठाणे के134वें सूत्र में प्राप्त हैं। ठाणांग सूत्र हमें यह भी सजगता प्रदान करता है कि किन-किन कारणों से हम सुलभ बोधि बन सकते हैं या बन जाते हैं।

(1) अरिहन्तों का (2) अर्हत्प्रज्ञप्त धर्म का, (3) आचार्य-उपाध्याय का, (4) चतुर्विध संघ का एवं (5) तप एवं ब्रह्मचर्य के विपाक से दिव्यगति को प्राप्त देवों का वर्णवाद करता हुआ जीव सुलभ बोधि करने वाले कर्म का उपार्जन करता है। फिर उसे छह स्थान सुलभता से प्राप्त होते हैं-मनुष्य भव, आर्य क्षेत्र, सुकुल में जन्म, केवली-प्रज्ञप्त धर्म का श्रवण, श्रद्धा एवं आचरण। फिर वह बोधिप्राप्ति के योग्य बनता है।

बोधप्राप्त करने की कला-यह बोध जीव दस प्रकार से प्राप्त कर सकता है। 10वें ठाणे के सूत्र 104 में दस रुचि-निसर्ग रुचि, उपदेश रुचि, आज्ञा रुचि, सूत्र रुचि, बीज रुचि, अभिगम रुचि, विस्तार रुचि, क्रिया रुचि, संक्षेप रुचि और धर्म रुचि का वर्णन है। जो जीव इन दस रुचियों में से एक या एक से ज्यादा रुचियों से सम्यक् दर्शन रूपी बोध प्राप्त करते हैं उन्हें तीन प्रकार की बोधि प्राप्त होती है-ज्ञान बोधि, दर्शन बोधि और चारित्र बोधि (3/173)। जो बोधि को प्राप्त करते हैं, वे बुद्ध होते हैं-ज्ञान बुद्ध, दर्शन बुद्ध और चारित्र बुद्ध। (3/174)

(2) विनयवान बनने की कला (The Art of Becoming Humble)

आत्मा का एक विशिष्ट गुण एवं स्वभाव विनय है। साधक बनने के लिए विनयवान होना अनिवार्य है। प्रभु ने अपनी अन्तिम वाणी उत्तराध्ययनसूत्र प्रथम अध्ययन में भी विनय की ही प्ररूपणा की है। यह गुण जब आत्मा में प्रगट होता है, तब अनेक सद्गुण साथ में प्रगट होते हैं। साधक जब विनयवान बनता है, तो वह धर्म रूपी महल का, इस विनय गुण की नींव के ऊपर निर्माण कर पाता है। यह गुण अनेक गुणों की माँ के समान है। यह गुण हमारे भीतर की कोमल वृत्ति के कारण ही उत्पन्न होता है।

भक्ति बहुमान आदि करना, कर्मपुद्गलों का विनयन करने का प्रयत्न करना, अनुकूल आचरण करना इत्यादि विनय है।

गुणों के व्यापारी बनेंगे तो, अध्यात्म के सेठ भी बनेंगे।

विनयवान कैसे बनें ? ठाणांग सूत्र के 7वें ठाणे के सूत्र 130 में विनय के सात प्रकारों का विस्तृत वर्णन है-ज्ञान विनय, दर्शन विनय, चारित्र विनय, मन-वचन-काय का विनय एवं लोकोपचार विनय। साथ ही ठाणा 7/131-133-135 में प्रशस्त मनो-विनय, प्रशस्त वचन विनय एवं प्रशस्त काय विनय इनके भी सात-सात भेद बताये गये हैं-निष्पाप मन, वचन, काया की प्रवृत्तियाँ, निर्दोष योगों की प्रवृत्तियाँ,

पापक्रिया रहित शुभ योग, उसी तरह क्लेश रहित, आस्रव रहित, यतना पूर्वक, निर्भय युक्त योगों की प्रवृत्तियाँ। ठाणा 7/137 में लोकोपचार विनय के भी सात भेद वर्णित हैं। श्रुत-ग्रहण करने के लिए गुरु के समीप बैठना, उनके अभिप्राय के अनुसार चलना, भीतर में कृतज्ञ भाव से विनय करना, प्रत्युपकार की भावना से विनय करना, रोग-पीड़ित के लिए औषध का अन्वेषण करना, देश-काल के अनुसार अवसरोचित विवेक युक्त विनय करना एवं सब विषयों में अनुकूल आचरण करना।

तीसरे ठाणे में प्रतिकूल आचरण की अपेक्षा से प्रत्यनीक सूत्रों के माध्यम से प्रत्यनीक बनने से बचने का मार्ग बताया गया है। (1) गुरु की अपेक्षा से तीन प्रत्यनीक (आचार्य, उपाध्याय, स्थविर) (2) गति की अपेक्षा में तीन प्रत्यनीक (इहलोक, परलोक, तदुभयलोक प्रत्यनीक), (3) समूह की अपेक्षा से तीन (कुल, गण, संघ), (4) अनुकम्पा की अपेक्षा से तीन (तपस्वी, ग्लान, शैक्ष-नव दीक्षित), (5) रत्नत्रय की अपेक्षा से तीन (ज्ञान, दर्शन व चारित्र), (6) श्रुत की अपेक्षा से तीन (सूत्र, अर्थ, तदुभय) इस तरह 18 प्रकार के प्रत्यनीक।

साधक की तीव्र भावना होती है विनय गुण सम्पन्नता को प्राप्त करने की। उस प्यास की पूर्ति हेतु सर्वप्रथम कर्मपुद्गलों का विनयन-विनाश करने के प्रयत्न में हमें ज्ञान व ज्ञानवान का विनय करना चाहिए। उसी तरह सम्यग्दर्शन और सम्यग्दृष्टि का विनय करते हुए चारित्र एवं चारित्रवान का भी विनय करेंगे। विशेष रूप से गुरु के नाम को नहीं छिपायेंगे, सम्यग्दर्शन के आचारों का पालन करेंगे एवं चारित्र को धारण करने का प्रयास करेंगे। इस तरह रत्नत्रय की भक्ति-बहुमानपूर्वक विनय करने से कर्म-पुद्गलों का विनाश होता है।

कला को बताना आगमकारों की कृपा, उस कला से जीवन बनाना हम सबका प्रयास एवं पुरुषार्थ है। मन को शुभ प्रवृत्ति में लगाना उसी समय अशुभ प्रवृत्ति से रोकना। उसी तरह वचन एवं काया को भी विवेकपूर्वक शुभ में लगाना एवं अशुभ से बचाने में सजगता रखनी होगी। जरूरत है ज्ञान, श्रद्धा, क्रियापालन की एवं तीव्र प्यास और उसमें सजगता की। प्रशस्त के प्रति भक्ति-बहुमान भाव आने से मन, वचन, काया से जो भी व्यापार होगा वह स्वत: शुभ ही होगा।

विनयवान बनना हो तो प्रत्यनीक मत बनो। स्वयं की इच्छाओं को त्यागकर गुरु आदि के अनुकूल आचरण करने से साधक सहज में विनयवान बन जाता है। तीसरे ठाणे की अनुपम देन है कि हमें विनयगुण में सर्वोत्कृष्ट स्थान पर पहुँचाने की।

जो गुरु का, संघ का, तपस्वियों का, श्रुत का आदर-सत्कार, बहुमान-भक्ति से अनुसरण या अनुकूल आचार करेगा वह पुण्य का अनुबन्ध किये बिना, कर्मपुद्गलों का विनाश किये बिना कैसे रह सकता है ?

लोकोपचार विनय से जीवन जीने की कला, सबके मन को जीतने की कला हमें प्राप्त होती है। कृतज्ञता, सेवा, भक्ति, समझ, प्रत्युपकार आदि अनेक भावनाओं से इस गुण में निपुण होने की सम्यक् समझ प्राप्त होती है। जो गुरु के समीप बैठेगा, इंगियाकार सम्पन्न बनेगा, सेवा करेगा तो क्यों नहीं विनय गुण रूपी नींव का निर्माण कर पायेगा। जरूर सम्भव है।

(3) समाधि में जाने की कला (The Art of Alleining Inner Power)

समाधि प्रत्येक मानव की चाह है और प्रत्येक साधक का जीवन है। प्रत्येक जीवात्मा की अभिलाषा है, सब जीव समाधि में जाना चाहते हैं, रमण करना चाहते हैं। ठाणांग सूत्र ने समाधि के निम्न दस सूत्र बतलाकर हमें शान्ति समाधि में जाने की कला प्रदर्शित की है -(1) प्राणातिपात विरमण (2) मृषावाद विरमण (3) अदत्तादान विरमण (4) मैथुन विरमण एवं (5) परिग्रह विरमण, इन पाँच सूत्रों के साथ 5 समिति को जोड़कर दस सूत्र बन जाते हैं।

इससे स्पष्ट होता है कि जो अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह के सिद्धान्तों को जीवन बना लें या पाँच महाव्रत के माध्यम से अपने जीवन को संयम में आरोहण कर ले, उसे समाधि स्वत: प्राप्त हो जाती है। जो दूसरों को दु:खी नहीं करता, झूठ का सहारा नहीं लेता, चोरी नहीं करता, अब्रह्म का सेवन नहीं करता और परिग्रह को सीमित या सर्वथा त्याग करता है, उसको कैसे असमाधि मिलेगी ? कभी नहीं।

बस चाहिए इन सूत्रों के अनुसार हमें जीने की तीव्र इच्छा, उसे जीवन में आचरण करने की कला। जो हिंसा नहीं करना चाहेगा वह सभी जीवों से मैत्री, करुणा, अनुकम्पा, अपनापन का सम्बन्ध स्थापित करके प्रशान्त भावों में जीने की महान उपलब्धि को प्राप्त कर लेगा।

(4) कर्म-निर्जरा (आत्म-विशुद्धि) की कला (The Art of Purification or Clening of Soul)

आत्मा निश्चय में शुद्ध-विशुद्ध परिपूर्ण परमात्मा स्वरूपी है। आत्मा व्यवहार नय की अपेक्षा से कर्म के संग से मलिन है। जो कर्मपुद्गल आत्मा के साथ एकाकार

होकर अनादि काल से बंधे हुए हैं उनका उदय निश्चय है। इस परम्परा से बाहर निकलने की कला हमें ठाणांग सूत्र के माध्यम से प्राप्त होती है। सूत्र 6/65-66 में तप के भेदों का वर्णन मिलता है। तप एक ऐसा माध्यम है जिससे पुरातन कर्मों का क्षय होता है। तप दो प्रकार से निर्वचन किया गया है-(1) जो तपाता है, अर्थात् कर्मों को जलाता है, वह तप है। (2) जिससे कर्म तपाए जाते हैं, कर्म क्षय के लिए जो तपा जाता है, वह तप है।

साधक जब अनास्रव होकर अर्थात् नये कर्मों के आगमन को रोक देता है, तभी वह पूर्व संचित कर्मों को तप द्वारा क्षीण करने में समर्थ होता है। यही तपो मार्ग है। वह तप दो प्रकार का कहा गया है-बाह्य और आभयन्तर। दोनों छह-छह प्रकार के हैं। **बाह्य तप**-जो प्रत्यक्ष दूसरों को दिखाई देता है। जिसका सीधा प्रभाव शरीर पर पड़ता है, जो मोक्ष का बहिरंग कारण है, वह बाह्य तप है। अनशन, ऊनोदरिका-(अवमोदरिका), भिक्षाचर्या, रसपरित्याग, कायक्लेश, और प्रतिसंलीनता यह बाह्य तप हैं। **आभ्यन्तर तप**-जिसमें बाह्य द्रव्यों की अपेक्षा न रहे, जो अन्त:करण के व्यापार से होता है और जिसमें अन्तरंग परिणामों की मुख्यता रहती है, वह आभ्यन्तर तप है। प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, ध्यान और व्युत्सर्ग यह आभ्यन्तर तप हैं।

ठाणांग सूत्र का महान उपकार, हमें अनेक माध्यमों से कर्म-निर्जरा के सूत्रों का ज्ञान करवा रहा है। सिर्फ शरीर को न तपाकर आत्मा को तप के माध्यम से कुन्दन करवाने में महान उपकार इन सूत्रों का है। मात्र उपकरण रूप शरीर तपे और भीतर उपलब्ध दूध नहीं तपे तो उपयोग नहीं। यहाँ तो विशेषता इन साधना-पद्धतियों की यह है कि साधन तो कम तपता है, भीतर विराजित आत्मा अधिक तप से महान कर्म-निर्जरा करवा देती है।

ठाणांग सूत्र में वर्णित वैयावृत्य के 10 भेद आदि महान निर्जरा, महान पर्यवसान के कारण हैं। ये भेद संसार-सागर को पार करने का व अन्त करने की कला का सुन्दर उपाय है। भक्ति युक्त, अग्लान भाव से सेवा करने से आत्मा महान विशुद्धि को पा सकती है। रत्नों के समान महान मूल्यवान सूत्रों के माध्यम से विशुद्धि को पाने की कला धन्य है, आगम धन्य है, प्रभु धन्य हैं, जिनवाणी धन्य हैं, आगमकार धन्य हैं।

(5) प्रत्याख्यान लेने की कला (The Art of Taking Vows)

सामान्य रूप से प्रत्याख्यान का अर्थ है संकल्प। पापकर्मों को आगे नहीं करने

के रूप में त्याग, संकल्प को प्रत्याख्यान कहते हैं। ठाणांग सूत्र के तीसरे, पाँचवें एवं दसवें ठाणे में प्रत्याख्यान तीन, पाँच एवं दस प्रकार का कहा गया है।

स्थानाङ्गसूत्र के तीसरे ठाणे में वर्णित है कि प्रत्याख्यान किस तरह से लेना चाहिए-मन से, वचन से, काया से। काल की अपेक्षा भी प्रत्याख्यान अल्पकाल एवं दीर्घकाल तक करना है। प्रकट में स्थानांग हमें अनेक तरह से प्रत्याख्यान करने की कला सिखाता है।

पर इन सबसे भी अधिक महत्त्वपूर्ण देन पंचम ठाणे में प्राप्त है। सर्वप्रथम त्याग श्रद्धा से करना चाहिए। जिस कार्य में श्रद्धा नहीं, उस कार्य में न उत्साह और न ही उमंग रहती है। मन में हलचल चलती रहती है। फल प्राप्त होगा या नहीं? इस तरह के संकल्प-विकल्पों में उस त्याग के प्रति आदर भाव या बहुमान भाव नहीं रह पाता है। श्रद्धा से तो त्याग-प्रत्याख्यान लिया पर अगला सूत्र कहता है कि वह प्रत्याख्यान विनयपूर्वक निर्दोष चाहिए। विनय धर्म का मूल है। विनय की टहनियाँ जितनी हरी-भरी होंगी, उतना ही वृक्ष विशाल होगा। श्रद्धा एवं विनय से सम्पन्न साधक गुरु के कहे के अनुसार प्रत्याख्यान को ग्रहण करता है और परिस्थितियों से ऊपर उठकर अनुपालन करता है, यह प्रत्याख्यान करने का महत्त्वपूर्ण अंश है।

इन सबके पीछे एक ही लक्ष्य आत्मा को शुद्ध करना है। शुद्ध करते हुए यह सजगता रखनी है कि पुन: मलिनता को प्राप्त नहीं हो। उसके लिए राग-द्वेष रहित होकर प्रत्याख्यान को शुद्ध भावों से पालन करने की कला में हमें स्थानांग निपुण बनाता है।

(6) ध्यान की कला (The Art of Meditation)

ध्यान की सरल-सामान्य सीधी परिभाषा या अर्थ है 'एकाग्रता'। उत्तराध्ययन सूत्र के 29वें अध्ययन में प्रभु ने फरमाया कि मन की एकाग्रता चित्त का निरोध करती है। एकाग्रता के महत्त्व को हम एक दृष्टान्त से समझ सकते हैं। जैसे-1-1 फुट के सौ खड्डे खोदने से पानी नहीं आता, एक ही जगह पर सौ फीट खड्डा खोदने से जमीन से पानी मिलता है। मन की एकाग्रता दो प्रकार की होती है। प्रशस्त और अप्रशस्त। प्रशस्त मनोयोग कर्मों की निर्जरा करवाते हैं और अप्रशस्त मनोयोग कर्मबन्ध करवाकर आत्मा को मलिन बनाते हैं।

ठाणांग सूत्र के चौथे ठाणे में ध्यान के चार प्रकार कहे गये हैं-आर्त्त ध्यान, रौद्र ध्यान, धर्म ध्यान और शुक्ल ध्यान। प्रथम दो ध्यान अप्रशस्त व अशुभ हैं,

अगले दो ध्यान प्रशस्त व शुभ हैं। **आर्त्त ध्यान**–किसी भी प्रकार का दु:ख आने पर शोक तथा चिन्तामय मन की एकाग्रता। **रौद्र ध्यान**–हिंसादि पापमयी क्रूर मानसिक परिणति की एकाग्रता। **धर्म ध्यान**–श्रुत धर्म और चारित्र धर्म के चिन्तन की एकाग्रता। **शुक्ल ध्यान**–कर्मक्षय के कारणभूत शुद्ध अध्यवसाय में लीन रहना।

अप्रशस्त या अशुभ ध्यान–आर्त्तध्यान एवं रौद्र ध्यान दोनों ही अप्रशस्त होने से कर्मबन्ध के कारण हैं। दोनों के प्रकार एवं लक्षणों का वर्णन, इसी ठाणांगसूत्र के चौथे ठाणे में प्राप्त होता है।

आर्त्तध्यान के चार प्रकार इस तरह हैं। अनिष्ट का संयोग या इष्ट का वियोग होने पर मनुष्य जो दु:ख, शोक, सन्ताप, आक्रन्दन और परिवेदना करता है वह सब आर्त्त ध्यान है। रोग को दूर करने के लिए चिन्तातुर रहना और प्राप्त भोग नष्ट न हो जावे, इसके लिए चिन्तित रहना भी आर्त्तध्यान है। तत्त्वार्थ सूत्र आदि ग्रन्थों में निदान को भी आर्त्त ध्यान के भेदों में गिना है। मुख्य बात जो समझने की है, जब दु:ख आदि के चिन्तन में एकाग्रता आ जाती है तभी वह ध्यान की कोटि में आता है। हमारी सजगता कर्मवश ऐसे निमित्त उपस्थित होते वक्त चिन्ता में डूबे नहीं, एकाग्रता से बचाव करके शीघ्र मन को प्रशस्त योगों में संलग्न कर लेवें।

रौद्र ध्यान के भी चार प्रकार कहे गये हैं। वह हिंसानुबन्धी, मृषानुबन्धी, स्तेयानुबन्धी और संरक्षणानुबन्धी। निरन्तर रुद्र या क्रूर कार्यों को करना, आरम्भ-समारम्भ में लगे रहना, उनको करते हुए जीवरक्षा का विचार न करना, झूठ बोलने और चोरी करते हुए भी पर-पीड़ा का विचार न करके पापों में आनन्दित होना, ये सर्व रौद्र ध्यान के कार्य कहे गये हैं। परिग्रह के अर्जन व संरक्षण सम्बन्धी तन्मयता रौद्र ध्यान का चौथा प्रकार है।

शास्त्रों में आर्त्त ध्यान को तिर्यंच गति में ले जाने का कारण कहा गया है और रौद्र ध्यान को नरक गति का कारण कहकर शास्त्रकार हमें सजग एवं सावधान रहने की प्रेरणा कर रहे हैं। यह दोनों अप्रशस्त एवं अशुभ ध्यान है।

धर्म ध्यान में जीने की कला–ठाणांग सूत्र की क्या विशेषता कहूँ। इसके एक सूत्र, एक कला में भी मैं निपुण हो जाऊँ तो बेड़ा पार हो जायेगा। ठाणांगसूत्र में धर्म ध्यान चार प्रकार से कहा गया है। जैसे-(1) आज्ञा विचय-जिन-आज्ञा रूप प्रवचन के चिन्तन में संलग्न रहना। (2) अपाय विचय-संसार-पतन के कारणों का विचार करते हुए उनसे बचने का प्रयास/उपाय करना। (3) विपाक विचय-कर्मों के

फल का विचार करना। (4) संस्थान विचय-जन्म-मरण के आधारभूत पुरुषाकार लोक के स्वरूप का चिन्तन करना। दोनों अप्रशस्त ध्यानों से उपरत होकर, कषायों की मन्दता से शुभ अध्यवसाय रूप जितने भी कार्य हैं उनको करना और करने के लिए चिन्तन करना धर्म ध्यान है।

अब ठाणांग सूत्र के माध्यम से आगमकारों ने हमें, स्वयं जाँच करने के लिए चार सूत्रों का प्रतिपादन किया है। उसे आगम में लक्षण का नाम दिया है। (1) आज्ञा रूचि-जिन-आज्ञा के चिन्तन-मनन में रुचि, श्रद्धा एवं भक्ति होना। (2) निसर्ग रुचि-धर्मकार्यों के करने में स्वाभाविक रुचि होना। (3) सूत्र रुचि-आगमों के पठन-पाठन में रुचि होना। (4) अवगाढ़ रुचि-द्वादशांग वाणी के अवगाहन में प्रगाढ़ रुचि होना। जब हम स्वयं को इन लक्षणों से तुलना करके देखते हैं तो यह जानकारी सहज में प्राप्त हो जाती है कि मेरा ध्यान मेरे भाव किस तरह से इन लक्षणों से मेल खाते हैं?

अकस्मात् हम यहाँ नहीं पहुँचे हो, या वैसे अध्यवसाय नहीं भी हों या है तो भी इसमें टिक कर नहीं रह पाते हैं तो भी यह चिन्ता करने का विषय नहीं है। क्योंकि ठाणांग सूत्र में वीतराग भगवन्तों ने चार आलम्बन के माध्यम से Art of Medition, Free & right Meditinon के सूत्र धर्म ध्यान के चार आलम्बन या आधार कहे गये हैं। वह है वाचना, प्रतिपृच्छना, परिवर्तना और अनुप्रेक्षा। यह और कुछ नहीं स्वाध्याय के ही तो भेद हैं। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रभु ने दो प्रहर स्वाध्याय एवं एक प्रहर अर्थ चिन्तन रूप या अनुप्रेक्षा रूप ध्यान की साधना को दिनचर्या में प्रतिष्ठित किया है। सिर्फ आधार आलम्बन से बतलाकर प्रभु ने उसमें स्थिरता के लिए एकत्वादि चार अनुप्रेक्षाएँ भी कही हैं। एकत्वानुप्रेक्षा, अनित्यानुप्रेक्षा, अशरणानुप्रेक्षा और संसारानुप्रेक्षा, ये चारों भावनाएँ हमें संसार के यथार्थ स्वरूप का बोध करवाती हैं। यह चारों आत्मा में अनुभूति करने योग्य सत्य हैं। जब हम आत्मा की अनुभूति में उतर जायेंगे, आत्मा से एकाकार हो जायेंगे तो आत्मा स्वयं सजगता से अप्रमत्तत्ता की प्यास को प्राप्त कर धर्म मय बन जायेगी।

इसमें मुख्य कला (केन्द्रबिन्दु) यह है इन सब कर्त्तव्यों का अनुष्ठान करते समय जितनी देर चित्त एकाग्र रहता है, उतनी देर ही ध्यान होता है। ध्यान की गहराई एवं घनिष्ठता अधिक फल प्राप्त करवाती है।

शुक्ल ध्यान सिद्ध दशा की कला (Art of Attaining Liberetion)

यह शुक्ल ध्यान चार प्रकार का बताया गया है और यह आठवें एवं ऊपर के गुणस्थान में पाया जाता है। इस ध्यान के द्वारा जीव अन्तिम क्षण में सर्वथा कर्मों से विमुक्त होकर सिद्ध परमात्मा बनकर सिद्धालय में जा विराजते हैं।

चार लक्षणों से इसको समझ सकते हैं-ध्यान में रमण करने वाला जीव शोभित नहीं होता, मोहित नहीं होता एवं भेद विज्ञान का पारगामी एवं पूर्ण निसंग होता है। इसके चार आलम्बन क्षमा, निर्लोभता, सरलता, मृदुता इसी को आगमकार शान्ति, मुक्ति, आर्जव व मार्दव कहते हैं। इन्हीं के माध्यम से चारों कषायों पर विजय प्राप्त की जाती है।

(7) पुण्यवान बनने की कला (The Art of Becoming Virtous)

ठाणांग सूत्र में नवें ठाणे के 25वें सूत्र में नौ प्रकार का पुण्य बताया गया है। पुण्य का बन्ध जीवात्मा शुभ भावों के कारण, शुभ अध्यवसाय के कारण एवं शुभ कार्यों को करके कर लेती है। कर्म दो प्रकार का है-पाप कर्म और पुण्य कर्म। ठाणांग सूत्र के इसी नवें ठाणे के 26वें सूत्र में पाप के भी नौ प्रकार बताये गये हैं। वे हैं- प्राणातिपात, मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन, परिग्रह एवं 4 कषाय के भेद।

जिसको पुण्यवान बनना है उसे इन पाप के नौ कारणों से बचना चाहिए एवं पुण्य के निम्न नौ कार्यों में आगे बढ़ना चाहिए-(1) अन्न पुण्य, (2) पान पुण्य, (3) लयन-पुण्य (4) शयन पुण्य (5) वस्त्र पुण्य, (6) मन पुण्य (7) वचन पुण्य (8) काय पुण्य और (9) नमस्कार पुण्य।

''मिले हुए का सदुपयोग।'' हाँ, जो हमें प्राप्त है, वह भी पुण्य से ही तो प्राप्त है। वो भले सिद्धि हो या रिद्धि हो सब पुण्य से ही प्राप्त है। जो मिला है उसका सदुपयोग करने से पुन: पुण्य का अनुबन्ध होता है और मिले हुए का भोग करते हैं तो पुण्य क्षीण होता है और पाप का बन्ध होता है। जैसे-हमारे पास समृद्धि है, जिनके पास नहीं है, उनकी भूख को मिटाने के लिए हम अन्न, प्यास को बुझाने को पानी, लज्जा निवारण व शीतादि सहन करने के लिए वस्त्र, रहने के लिए स्थान, सोने के लिए पाटादि प्रदान कर, सेवा करके पुण्य कर्म का अनुबन्ध कर सकते हैं। जिसको जिस वस्तु का अभाव है, हम उसके अभाव को दूर कर शान्ति प्रदान करते हैं, समाधि प्रदान करते हैं और उस समय जितनी हमारी भावना करुणा, दया, अनुकम्पा एवं अपनत्व से युक्त होती है हमारी आत्मा उतना उच्च कोटि का, दीर्घ काल का

पुण्य अर्जन कर लेती है। हमने मन-वचन-काया का जो सुयोग पाया है उसका सदुपयोग करने से अर्थात् शुभ भाव रखना, शुभ वचन बोलना एवं काया से सेवादि करने से भी पुण्य का अनुबंध होता रहता है। शुभ मन से, काया को नमाकर विनय भाव से बड़ों को नमस्कार करने से पुण्य का बन्ध होता है। पुण्यानुबन्धी पुण्य का बन्ध पुण्य से प्राप्त पुण्यवानी को पुण्य के कार्य में लगाने से होता है। पूर्व भवों में संचित पुण्य को इस तरह सदुपयोग करने की कला ठाणांग सूत्र में हम प्राप्त कर अपने आपको अनन्त पुण्यवान बनाकर एक दिन हम हमारे परम लक्ष्य को प्राप्त कर सिद्धों के अनन्त सुखों के स्वामी हो सकते हैं।

स्थानांग में मात्र इतनी ही कलाये हैं ऐसा नहीं, इसका तो हर पद ही एक नई कला सिखाता है पर प्रमुखता, विशेषता, उपयोगिता की दृष्टि से यहाँ कुछ कलाओं का विवेचन किया गया। हम इन आध्यात्मिक कलाओं को सीखकर आध्यात्मिक कलाकार बनें, यही मंगल भावना है।

लघुकथा

गाँव देहात में एक कीड़ा पाया जाता है, जिसे गोबरैला कहा जाता है। उसे गाय, भैंसों के ताजे गोबर की बू बहुत भाती है। वह सुबह से गोबर की तलाश में निकल पड़ता है और सारा दिन उसे जहाँ कहीं गोबर मिल जाता है, वहीं उसका गोला बनाना शुरु कर देता है। शाम तक वह एक बड़ा सा गोला बना लेता है। फिर उस गोले को ढ़केलते हुए अपने बिल तक ले जाता है।

लेकिन बिल पर पहुँच कर उसे पता चलता है कि गोला तो बहुत बड़ा बन गया, मगर उसके बिल का द्वार बहुत छोटा है। बहुत परिश्रम और कोशिशों के बाद भी वह उस गोले को बिल के अन्दर नहीं ढ़केल पाता और उसे वहीं पर छोड़कर बिल में चला जाता है।

यही हाल हम मनुष्यों का भी है। पूरी जिन्दगी हम दुनियाभर का माल-मत्ता जमा करने में लगे रहते हैं और जब अन्त समय आता है तो पता चलता है कि ये सब तो साथ नहीं ले जा सकते और तब हम उस जीवनभर की कमाई को यहीं छोड़कर इस संसार से विदा हो जाते हैं। यह ही जीवन की सत्यता है।

व्यक्तित्व-विकास हेतु स्थानाङ्गसूत्र के गुर

-श्री शान्तिलाल बोहरा, बेंगलूरू

प्रशमरति ग्रन्थ के एक संवाद को सामने रख रहा हूँ-

आचार्य उमास्वाति पूछते हैं-तुम्हें गुण समृद्ध होना है। शिष्य का जवाब है-हाँ। पुन: पूछते हैं-गुण समृद्ध बनने की तुम्हारी तमन्ना है। शिष्य का जवाब है-हाँ।

पुन: पूछते हैं-आत्म गुण का खजाना तुम्हें खोजना है। शिष्य का जवाब है-हाँ।

मैं समझता हूँ इन तीन प्रश्नों में समस्त गुणों का एवं व्यक्तित्व-विकास का रहस्य छिपा हुआ है, समाधान छिपा हुआ है। वह समाधान क्या हो सकता है-आचार्य उमास्वाति के शब्दों में-**विनयायत्ताश्च गुणा: सर्वे**..... (प्रशमरति, 169) अर्थात् सभी गुण विनय के अधीन हैं, अत: तुम्हें विनयी होना होगा, विनय गुण को आत्मसात् करना होगा, तुम्हें सभी गुण प्राप्त हो जायेंगे। ठाणांग सूत्र के 7वें ठाणे के सूत्र 130 से 137 में विनय का स्वरूप एवं भेद विस्तार से वर्णित किये गये हैं। क्या है-'व्यक्तित्व विकास', क्या है-What is personality dovelopment और it's formulas to become great person in Sthanang Sutra. इसी रहस्य को हमें स्थानाङ्गसूत्र में खोजना है।

बन्धुओं! व्यक्तित्व-विकास के गुर को जानने से पहले हमें थोड़ा-सा व्यक्तित्व को समझना पड़ेगा। व्यक्तित्व personality शब्द व्यक्ति (person) भाव से बना है। अत: मानवता का विकास ही व्यक्तित्व का विकास है। इस विकास को हम मुख्य रूप से दो भागों में विभाजित कर सकते हैं-(1) बाह्य व्यक्ति जो बाहर से दिखाई देता है। (2) आन्तरिक व्यक्तित्व-जो अन्तरात्मा में गुणवृद्धि होकर होता है। जो बाहर प्रत्यक्ष तो नहीं दिखता है परन्तु उसका प्रभाव बाहर दिखाई देता है। इन दो भेदों के विस्तृत रूप से अनेक भेद फलित हो सकते हैं। जिनमें कतिपय निम्नानुसार हो सकते हैं-(1) शारीरिक व्यक्तित्व-विकास (2) मानसिक व्यक्तित्व-विकास (3) सामाजिक व्यक्तित्व-विकास (4) नैतिक व्यक्तित्व-विकास (5) चारित्रिक व्यक्तित्व-विकास (6) धार्मिक व्यक्तित्व-विकास (7) आध्यात्मिक व्यक्तित्व विकास।

बन्धुओं! अत: हमारा व्यक्तित्व विकास कैसे हो ? कैसे हमारा व्यक्तित्व आकर्षक बने ? चुम्बकीय व्यक्तित्व कैसे बने ? हम लोकवल्लभ कैसे बने? इन सभी तथ्यों के उत्तर हमें स्थानाङ्गसूत्र में ढूँढने हैं, साधक तथा साधना के स्तर पर ढूँढने हैं।

यह तो अटल एवं परम सत्य है कि सभी प्रकार के विकास का मूल आधार आत्मा का विकास ही है और आत्म-विकास में सहयोगी हैं-पुण्य एवं धर्म। स्थानाङ्गसूत्र का प्रारम्भ ही आत्मा से होता है, 'एगे आया' बन्धुओं! प्रभु का यह **'एगे आया।'** सूत्र अस्तित्व का सूत्र है। अस्तित्व है तो व्यक्तित्व हो सकता है, बन सकता है, निखर सकता है। अत: आत्मा की श्रद्धा अथवा आत्म-विकास से ही व्यक्तित्व-विकास का शुभारम्भ होता है। इसी प्रथम स्थान में ही 11वें सूत्र में कहा है-'एगे पुण्णे' अर्थात् पुण्य एक है। इसी सूत्र का विस्तार करते हुए नवमें ठाणे के 25वें सूत्र में 9 पुण्यों का वर्णन किया गया है। आत्म-विकास एवं व्यक्तित्व-विकास चाहिये तो पुण्य को बढ़ाना आवश्यक है।

सभी प्रमुख शास्त्रों की तरह इस शास्त्र में भी प्रमुखता से साधु अथवा साधक को दिशानिर्देश दिया गया है। परन्तु उसका आंशिक भाव-श्रावक एवं गृहस्थ के लिए भी लागू होता है। जैसे पिता अपने बड़े पुत्र को हित शिक्षा विस्तार से देता है तो छोटे पुत्र के लिए भी वही भाव होता है। ठीक वैसे ही अणगार साधक प्रभु के गुरु नन्दन हैं और हम जैसे अगार साधक प्रभु के लघु नन्दन हैं। हमारे लिये भी शास्त्र वाणी के भाव उसी प्रकार गृहस्थ धर्म के अनुरूप लागू होंगे ही। हमें इसी सन्दर्भ को ध्यान में रखकर ही स्थानांग के सूत्रों की व्याख्या को व्यक्तित्व-विकास के सम्बन्ध में समझना है।

व्यक्तित्व-विकास के पीछे हमारा उद्देश्य क्या है? उद्देश्य है दु:ख को दूर करना एवं सुख को प्राप्त करना। दु:ख दूर करने के लिए, सुखप्राप्ति के लिए, व्यक्तित्व-विकास की आवश्यकता है। इसी सन्दर्भ में प्रभु तीसरे ठाणे के दूसरे उद्देशक के सूत्र 336 में फरमाते हैं-जीव दु:ख से भय खाते हैं, दु:ख प्रमाद से उत्पन्न होता है और सुखी बनने के लिए अप्रमाद की आवश्यकता है। इस सन्दर्भ में टीकाकार ने आठ प्रकार के प्रमाद बताये हैं-अज्ञान, संशय, मिथ्याज्ञान, राग, द्वेष, मतिभ्रंश, धर्म में अरुचि और अशुभ प्रवृत्ति। अत: इन आठ दोषों का त्याग करने से जीव को अपना लक्ष्य प्राप्त होता है, साथ ही व्यक्तित्व का विकास होता है।

इसी दृष्टि से भगवान ने तीसरे ठाणे के तीसरे उद्देशक के अन्तिम 418वें सूत्र में पर्युपासना की बात फरमाई है। पर्युपासना करने वाला अर्थात् गुणवान की सेवा में रहने वाला व्यक्ति समस्त गुणों को प्राप्त कर लेता है। लेकिन उसके लिये स्वयं में उत्थान, कर्म, बलवीर्य पुरुषाकार पराक्रम की आवश्यकता तो अवश्य ही रहती है और इसी का सन्देश प्रभु ने पहले ठाणे के 44वें सूत्र में विशेष रूप से दिया है। साथ ही संकेत भी किया है कि ये उत्थान आदि गुण मात्र शारीरिक न होकर शारीरिक, मानसिक एवं आत्मिक तीनों शक्तियों का समन्वयतात्मक गुण है। अर्थात् व्यक्तित्व-विकास के लिये शरीर, मन व आत्मा तीनों ही शक्तियों के समुचित विकास की आवश्यकता होती है और इन तीनों के विकास से अतिशय गुणों की प्राप्ति होती है।

साथ ही अतिशय गुणों की प्राप्ति हेतु कुछ विधिनिषेध भी अपेक्षित है इसका संकेत हमें चौथे ठाणे के दूसरे उद्देशक की सूत्र संख्या 254-55 में मिलता है। जहाँ साधक के लिए विवेकशीलता, धर्म-जागरणा एवं निर्दोष, शुद्ध, सात्त्विक आहार का विधान किया है और विकथा प्रसंगों का निषेध किया है। लेकिन विधि-निषेध का आचरण मात्र कहने, सुनने या पढ़ लेने मात्र से पूरा नहीं हो जाता है बल्कि इसके लिये दृढ़ता और प्रत्याख्यान की आवश्यकता है। इस हेतु प्रभु ने दूसरे ठाणे के पहले उद्देशक में कहा है कि आरम्भ और परिग्रह आदि अशुभ वृत्तियों को 'ज्ञ' परिज्ञा से जाने और 'प्रत्याख्यान परिज्ञा' से दृढ़तापूर्वक त्याग करें तभी साधक केवलि-प्ररूपित धर्मज्ञ, श्रवण और सम्यक् बोध आदि 11 गुणों की प्राप्ति कर सकता है। वह चारित्रवान, ज्ञानवान बन सकता है अर्थात् अपने गुणों का विकास कर सकता है। आगे तीसरे ठाणे के चौथे उद्देशक के सूत्र 476-477 में कहा है कि अविनीत, रसलोलुप और कलहकारक व्यक्ति हितशिक्षा के लिए अयोग्य होता है अत: अपना विकास चाहने वाले को सदा ही विनीत, रसत्यागी एवं शान्त स्वभावी बने रहना चाहिए।

प्रभु ने फरमाया है कि उत्तम मार्ग में, विकास के क्षेत्र में प्राय: मानसिक कमजोरी, चंचल भाव, इच्छाएँ आदि विघातक बाधाएँ आ जाया करती हैं और व्यक्ति विकास मार्ग से पतित होकर पतन की ओर चला जाता है, विनाश की ओर जा पहुँचता है। अत: साधक को सावधान करने के लिए और विकास में निरन्तर गति बनाए रखने हेतु छह पलिमन्थु (बाधक दोष) का वर्णन किया है और उनसे बचने का सन्देश दिया है।

व्यक्तित्व-विकास के लिए आत्मिक गुणों के साथ-साथ व्यावहारिक पक्ष की भी समान रूप से आवश्यकता है अत: प्रभु ने 10वें ठाणे के 135वें सूत्र में 10 यति धर्म से विलग ग्राम धर्म आदि 10 धर्मों का कथन किया है। व्यक्ति को व्यवहार पालन की दृष्टि से जिस ग्राम, नगर, राष्ट्र आदि में वह निवास करता हो उस ग्राम आदि की सामान्य मर्यादाओं का पालन कर्त्तव्य भाव से एवं सामाजिक सरोकार से अवश्य ही करना चाहिये तभी वह उस ग्राम आदि में आदरणीय, प्रशंसनीय, अनुकरणीय व्यक्तित्व का धनी बन सकता है। अन्यथा वह व्यक्ति घमण्डी या समाज से कटा हुआ माना जायेगा। कथा गाँव का ठाकुर गाँव के किसी भी व्यक्ति के घर में गम के अवसर पर भी घोड़े पर बैठकर जाता था। लोक-मर्यादा का पालन नहीं करता था। एकदा ठाकुर की माताश्री का देहान्त हो जाने के अवसर पर गाँव के सभी सदस्य घोड़े पर बैठकर ही पहुँचे तो अर्थी उठाने हेतु चार कन्धों की भी कमी पड़ गई। तब ठाकुर को अहसास हुआ कि मैंने ग्रामधर्म न निभाकर बहुत बड़ी भूल कर दी। तब क्षमा याचना करके अपनी गलती को सुधारा, अपने अहंकार से नीचे उतरा।

यह घटना इस बात की पुष्टि करती है कि प्रत्येक व्यक्ति को ग्राम आदि व्यवहार धर्म भी बड़ी ही निष्ठा भाव से निभाने चाहिये तभी वह अपने सुख-दु:ख के अवसरों पर दूसरों का हार्दिक सहयोग एवं भावनात्मक संबल प्राप्त कर सकता है।

व्यक्तित्व-विकास का एक रूप यह भी है कि जिसका व्यक्तित्व जितना प्रभावशाली एवं आकर्षक होता है, उतना ही वह अपने साथी सदस्यों अथवा किसी भी संघ, कम्पनी, समूह, दल आदि को सुव्यवस्थित चला सकता है। इस हेतु बाह्य एवं आभ्यन्तर दोनों गुण आवश्यक हैं। इसी बात की पुष्टि ठाणांग सूत्र के छठे ठाणे में मिलती है। जिसके प्रारम्भिक सूत्र में ही गण-धारण सूत्र के माध्यम से बताया है कि गणधारण योग्य अनगार छह गुणों से सम्पन्न होता है-(1) श्रद्धावान, (2) सत्यवादी, (3) मेधावी (4) बहुश्रुत-विभिन्न शास्त्रों का ज्ञाता, (5) शक्तिमान, (6) कलह-विग्रह से रहित। इन छह गुणों से व्यक्ति के व्यक्तित्व का आन्तरिक विकास होता है। साथ ही शास्त्रकार मात्र आंतरिक विकास को ही महत्त्व देते हों ऐसा नहीं है, बल्कि बाह्य आकर्षण का भी महत्त्व शास्त्रों में वर्णित है। छठे ठाणे के ही 31वें सूत्र में वर्णित छह संस्थानों में से समचतुरस्र संस्थान की उत्तमता बाह्य आकर्षण, चुम्बकीय व्यक्तित्व की ओर इंगित करता है। सभी उत्तम पुरुषों एवं देव

गणों के भी यही उत्कृष्ट संस्थान होता है। अत: व्यक्तित्व-विकास में शारीरिक आकर्षण के महत्त्व को भी आगमकार मानते हैं।

शारीरिक व्यक्तित्व के साथ ही वचन व्यवहार भी महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। इसी को 7वें ठाणे के 39 से 48वें सूत्रों में सात स्वरों का स्वरूप, गुण, दोष आदि वर्णन करके स्वर/भाषा की महत्ता को समझाया है।

शारीरिक एवं वाचिक व्यवहार के साथ ही वैभव एवं परिवार का भी व्यक्तित्व के मूल्यांकन में बड़ा ही महत्त्व माना गया है। वर्तमान की आधुनिक व्यवस्था में भी पुत्रादि परिवार तथा व्यापार एवं वैभव से व्यक्तित्व की महत्ता का मूल्यांकन किया जाता है। यही तथ्य ठाणांग सूत्र के पाँचवें ठाणे के तीसरे उद्देशक के 193वें निधि सूत्र में दर्शाया गया है। जिसमें पुत्र, मित्र, शिल्प, धन एवं धान्य को निधि के रूप में वर्णित करते हुए इन सभी को जीवन के आवश्यक अंगरूप स्वीकार किये गये हैं। उपर्युक्त शारीरिक, वाचिक एवं वैभव आदि के साथ आत्मबल की आवश्यकता बताते हुए पाँचवें ठाणे के तीसरे उद्देशक के 198वें सत्त्व सूत्र में बताया है कि सत्त्व की अपेक्षा पाँच प्रकार के पुरुष होते हैं। जिनमें कोई हिम्मत हार जाते हैं, कोई लज्जावश हिम्मत रखते हैं, कोई विकट स्थिति में भी हिम्मत को स्थिर रखते हैं तो किसी की हिम्मत उत्तरोत्तर वर्धमान होती है। शास्त्रकारों का मानना है कि जिनका सत्त्व स्थिर अथवा वर्धमान होता है वे ही श्रेष्ठ पुरुष की श्रेणी में आते हैं।

सभी वैभव होने के बाद भी आत्मबल रूप सत्त्व की आवश्यकता होती है। अत: आध्यात्मिक विकास हेतु पंचम ठाणे के प्रथम उद्देशक के सूत्र 1, 2 में क्रमश: 5 महाव्रतों एवं 5 अणुव्रतों के पालन का निर्देश दिया है और सूत्र 3 से 15 तक में 5 इन्द्रियों के विषयों अर्थात् शब्द, रूप, गन्ध, रस एवं स्पर्श इन पाँच काम गुणों की आसक्ति से पतन तथा विरति एवं मर्यादा से उत्थान (आत्मविकास) का बोध दिया गया है।

व्यक्तित्व-विकास के दिशा-निर्देशों से स्थानाङ्गसूत्र का चतुर्थ स्थान (चौथा ठाणा) भरा पड़ा है। वैसे तो चौथे ठाणे में सैद्धान्तिक, भौगोलिक, प्राकृतिक विषयों का भी वर्णन है परन्तु बहुलता की दृष्टि से देखा जाय तो चौथा ठाणा मुख्यत: पुरुष एवं उसकी पौरुषता का प्रतिपादन करने वाला दिखाई पड़ता है। प्रभु ने वृक्ष, फल, वस्त्र, हाथी, अश्व, मेघ (बादल) आदि अनेक तथ्यों के माध्यम से पुरुष की जाति का, शरीर

का, रूप का, भावों का, मनोवृत्तियों का एवं पुरुष के शील-सदाचार का बड़े ही सुन्दर एवं प्रभावक तरीके से वर्णन किया है। संक्षेप में तो यही कहा जा सकता है कि स्थानाङ्गसूत्र का चौथा ठाणा मानव जाति के विकास तथा महानता हेतु दिशा-निर्देश का महासागर है।

आत्मबन्धुओं! शास्त्रकार ने चौथे ठाणे के पहले उद्देशक के सूत्र 2 में बताया है कि कोई पुरुष शाल वृक्ष की तरह शरीर एवं गुण दोनों से उन्नत होता है, कोई नीम की तरह शरीर से उन्नत परन्तु गुण से हीन होता है, कोई अशोक वृक्ष की तरह शरीर से हीन पर गुण से उत्तम होता है और कोई खैर वृक्ष की तरह शरीर एवं गुण दोनों से हीन होता है। इसी प्रकार मनुष्य के शरीर एवं भाव, शरीर एवं रूप, फिर ऐश्वर्य एवं मन और ऐश्वर्य के साथ संकल्प, प्रज्ञा, दृष्टिकोण, शील-आचार, व्यवहार और पराक्रम की चतु:भंगियों से बताया है कि मानव-जीवन की उत्तमोत्तम दशा, उत्तम दशा, हीन दशा तथा हीनतम दशा का सर्वांगीण वर्णन किया है। अर्थात् यदि मनुष्य को उत्तमोत्तम दशा का जीवन जीना है तो उसे शरीर के साथ-साथ गुण भी उत्तम धारण करने होंगे। इतना ही नहीं उसे अपनों भावों को निर्मल रखने की, मन को स्वच्छ एवं पवित्र रखने की आवश्यकता है।

ठाणा 4 उद्देशक 1 सूत्र 34 में बताया है कि कोई पुत्र या पुरुष अपने पिता-पितामह आदि से चली आ रही यश-कीर्ति-समृद्धि आदि को आगे बढ़ाता है, वह **अतिजात** कहलाता है। कोई उसे बढ़ा नहीं सकता तो उसे सम्भालकर रखता है, वह **अनुजात** कहलाता है। कोई उसे घटा देता है, वह **अपजात** कहलाता है और कोई-कोई पुत्र समस्त यश-कीर्ति आदि को नष्ट और दूषित कर देता है, वह **कुलंगार** कहलाता है। यहाँ शास्त्रकार ने यह सन्देश दिया है कि व्यक्ति को अपनी कुल-परम्परा से प्राप्त यश-कीर्ति एवं समृद्धि को सदा विकसित करते हुए अपने व्यक्तित्व एवं जीवन को उत्तमोत्तम बनाना चाहिये।

कहा है कि कुछ व्यक्ति अपने उपकारी का प्रत्युपकार शीघ्र ही करते हैं, कोई दीर्घ सेवा पर भी अल्प प्रत्युपकार करते हैं और कोई सिर्फ बातें करते हैं पर प्रत्युपकार नहीं करते हैं। इसी प्रकार कोई बाहर से भद्रिक दिखते हैं पर वास्तव में भद्र या भले नहीं होते हैं। भला दिखने की बजाय भला होना ज्यादा महत्त्व रखता है किन्तु उत्तमोत्तम पुरुष तो भले दिखते भी हैं, भले होते भी हैं। वे भला ही व्यवहार करते हैं

और अन्तर्भावों से भी भले होते हैं। इसी प्रकार कोई-कोई व्यक्ति शरीर पर सुन्दर वस्त्र एवं इन्द्रियों पर मर्यादा की गुप्ति से गुप्त होते हैं पर कोई-कोई दोनों से गुप्त नहीं होते हैं तो कोई-कोई शरीर या इन्द्रियाँ दोनों में से किसी एक से गुप्त और एक से अगुप्त होते हैं। इन सूत्रों के द्वारा प्रभु ने सन्देश दिया है कि उपकार, भला व्यवहार, गुप्तता आदि गुण सिर्फ बाहरी दिखावे के लिए नहीं बल्कि वास्तविकता में होने जरूरी हैं। तभी जीवन एवं व्यक्तित्व का वास्तविक निखार आ सकता है।

प्रभु ने मानवीय गुणों में भद्रता को बहुत ही उच्च स्थान दिया है और इस हेतु चौथे स्थान के दूसरे उद्देशक के सूत्र 229 एवं 236 में फरमाया है कि जाति, कुल, बल एवं रूप से सम्पन्न पुरुष वीर्य एवं धैर्य गुणों से सम्पन्न होने से ही भद्र माना जाता है।

ठाणा 4 के उद्देशक 2 में सूत्र 361 में एक रूपक के माध्यम से मनुष्य के चार प्रकार बताते हुए जीवन में महान गुणों को धारण करने का कथन किया गया है। कुछ पुरुष पत्तेदार वृक्षों की तरह सम्पन्न होते हुए भी जनहितार्थ कुछ भी देते नहीं हैं। कुछ फूलों वाले वृक्षों की तरह सम्पन्न हैं पर मात्र सुगन्ध देते हैं, कुछ मात्र छाया देते हैं पर कुछ उत्तमोत्तम पुरुष सम्पन्न होते हैं और अपनी सम्पन्नता का उपयोग फलदायी वृक्षों की तरह भरपूर दानादि देकर करते हैं। ऐसे पुरुषों को आगमकारों ने भरत चक्रवर्ती जैसा बताते हुए उदितोदित गुण वाले कहा है। इसी में सूत्र 431 में पुरुष को आदर्श अर्थात् दर्पण समान निर्मल चित्त वाला बनने की शिक्षा दी है परन्तु पताका समान अस्थिर चित्त, खम्भे के समान कदाग्रही और खरकंटक के समान दूसरों को चुभने वाले दुर्गुणों से दूर रहने का संकेत किया है।

प्रभावशाली एवं उत्तम व्यक्तित्व के धनी पुरुष अपने कर्त्तव्यों का पालन निरन्तर, शीघ्र गति से एवं उत्साह पूर्वक करते हैं इसी का संकेत 4/3/468 एवं 4/3/480 में घोड़े की जाति में आकीर्ण एवं खलुंक दोष से किया है। जातिवान घोड़ा शीघ्रता से गतिमान होता है और मंजिल-प्राप्ति तक अपने वेग को कम नहीं करता है वैसे ही उत्तमोत्तम पुरुष अपने कर्त्तव्य के साथ पूरा वेग और पूरा उत्साह लगाता है। इसी तरह सिंहवृत्ति एवं सियारवृत्ति से भी कहा है कि अपने कर्त्तव्यों की सिंह की तरह स्वीकार करना चाहिए तथा सिंह की तरह ही पूरा करना चाहिए सिंहवृत्ति में सियारवृत्ति को नहीं आने देना चाहिए।

सूत्र 4/4/541 में सार-असार का वर्णन करते हुए कहा है कि श्रेष्ठ व्यक्ति

को सार वस्तुओं के राजा के करंडिये (कोष) की तरह गुणरत्नों से अपनी आत्मा को भरण-पोषण करना चाहिए।

सूत्र 4/4/584 में मेघ की तुलना से व्यक्ति को उदार एवं गम्भीर व्यक्तित्व का सन्देश दिया है कि व्यक्ति को अन्दर तथा बाहर दोनों पक्षों से गहराई वाला होना चाहिए। तुच्छ बुद्धि एवं ओछा स्वभाव उत्तमता की निशानी नहीं है। सूत्र 4/4/596 में अन्दर-बाहर की एक रूपता हेतु घड़े एवं ढक्कन की बात कही है। व्यक्ति को अन्दर स्वभाव से तथा बाहर व्यवहार से दोनों पक्षों में मधु समान मीठा एवं चिकना होना चाहिए लेकिन बाहर मधु का दिखावा करके अन्दर जहरीला नहीं होना चाहिए। सूत्र 4/4/599 में व्यक्ति को उद्यमी बनने की शिक्षा देते हुए प्राप्त समृद्धि की रक्षा करने में तथा अप्राप्त को प्राप्त करने के लिए सदा उद्यमशील बनने की शिक्षा ने दी है।

इन सभी गुणों की प्राप्ति में बुद्धि-प्रज्ञा की अति आवश्यकता होती है अत: सूत्र 4/4/606 में औत्पत्तिकी, वैनयिक, कार्मिकी और पारिणामिकी बुद्धियों का वर्णन करके पुरुष को पुरुषार्थी, विनयशील, क्रियाशील एवं शुभ परिणामी-गम्भीर बनने की शिक्षा दी है। इन चार गुणों से बुद्धि का विकास होता है और सभी प्रकार के गुण प्राप्त होकर व्यक्ति का व्यक्तित्व प्रभावशाली, आकर्षक, चुम्बकीय एवं सच्चारित्रिक बन जाता है।

व्यक्तित्व-विकास हेतु कुछ नियमों एवं व्यवस्थाओं का पालन अति-आवश्यक है, इसका स्वरूप प्रभु ने दसवें ठाणे के सूत्र 109 में दस प्रकार की समाचारी से किया है-

(1) कार्य करने-करवाने की इच्छा रखे। (2) भूल की क्षमा माँगे। (3) गुरु वचनों को आदरपूर्वक स्वीकार करे। (4) आवश्यकता अनुसार पूछकर बाहर जावे। (5) कार्य निवृत्ति पर सूचित करे। (6) दूसरों की सेवा हेतु पूछे, सेवा करे। (7) बार-बार पूछे, भाव-पूर्वक सेवा करे। (8) आहारादि के समय अपने साधर्मिकों, सहयोगियों को निमन्त्रित करे। (9) दूसरों को आहार आदि आवश्यक वस्तु लाकर देवे। (10) शिक्षा का अवसर मिलने पर आगे होकर जावे एवं हित शिक्षा ग्रहण करे।

इन दस समाचारी आदि को जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में यथायोग्य उपयोग में लेने से व्यक्ति प्रत्येक क्षेत्र में उन्नति, विकास, उत्थान और सफलता को प्राप्त कर सकता है।

स्थानाङ्ग में वर्णित दस धर्म और कर्त्तव्यपालन

-डॉ. दिलीप धींग, चैन्नई

श्रेष्ठ मानव और आदर्श नागरिक बने बगैर कोई भी व्यक्ति अच्छा व सच्चा धार्मिक व्यक्ति नहीं बन सकता। धर्म महज परलोक का विचार ही नहीं है; अपितु वर्तमान जीवन, समाज, देश व दुनिया को बेहतर बनाने की साधना भी है। यही साधना करते हुए एक सद्गृहस्थ ग्राम/नगर से लेकर देश तक के प्रति अपने कर्तव्यों को किसी न किसी रूप में निभाता है। उसका यह कर्त्तव्य-निर्वहन उन सब चीजों को सुव्यवस्थित करता है, जिनमें मुख्यत: समाज सम्मिलित है। कर्त्तव्य-परायणता व्यक्ति, समाज और देश की उन्नति का मुख्य आधार है। जिस देश, समुदाय या क्षेत्र में कर्त्तव्य-परायण नागरिक निवास करते हों, वह देश, समुदाय या क्षेत्र निरन्तर विकास करता है। जैन आगम-ग्रन्थों में जगह-जगह कर्तव्यनिष्ठा के उद्धरण और उदाहरण मिलते हैं।[1] वहाँ कहा गया है कि जो अनर्थ-रूप और अकर्त्तव्य है, उनका आचरण नहीं करना चाहिये।[2] उपासकदशांग सूत्र के दस श्रावक अपनी प्रेरणादायी जीवन-साधना के माध्यम से धर्मनिष्ठा व कर्मनिष्ठा (कर्मठता) एवं श्रद्धा व श्रम के सन्तुलन और समन्वय का आदर्श प्रस्तुत करते हैं।

जो व्यक्ति कर्त्तव्यनिष्ठ होता है, वह आध्यात्मिक साधना के साथ ही पारिवारिक, सामाजिक, लौकिक, राष्ट्रीय आदि सभी धर्मों की आराधना करता है। ऐसी ही समन्वित और समग्र जीवन-साधना का बोध स्थानांग सूत्र में निर्दिष्ट धर्म के दस भेदों से होता है- दसविहे धम्मे पण्णत्ते, तं जहा- गामधम्मे, णयरधम्मे, रट्ठधम्मे, पासंडधम्मे, कुलधम्मे, गणधम्मे, संघधम्मे, सुयधम्मे, चरित्तधम्मे, अत्थिकायधम्मे।[3] स्थानांग सूत्र के इन दस धर्मों का विवेचन यहाँ किया जा रहा है-

(1) ग्रामधर्म-गाँव के प्रति अपने फर्ज को निभाना ग्रामधर्म है। भगवान महावीर उनके प्रथम नयसार के भव में 'ग्राम-चिन्तक' थे। स्थानांग सूत्र (10/136) में ग्रामधर्म के समुचित परिपालन के लिए 'ग्राम-स्थविर' की व्यवस्था का निर्देश किया गया है। इस व्यवस्था के अन्तर्गत ग्रामवासियों को अपना और अपने गाँव का विकास सुनिश्चित करना होता है। ग्राम-स्थविर की तुलना वर्तमान में ग्राम-सेवक तथा सरपंच

से की जा सकती है। गाँवों की उन्नति पर देश की उन्नति निर्भर है। पिछली सदी में महात्मा गाँधी ने ग्रामोन्नति पर बहुत जोर दिया। उन्होंने ग्राम-स्वराज का सपना देखा। पंचायती राज के माध्यम से उसे साकार करने की राह सुझाई।

सदियों पूर्व आगम ग्रन्थों में इन व्यवस्थाओं के उपयोगी सूत्र हमें मिलते हैं। गाँव अर्थव्यवस्था की आधारभूत इकाई है। ग्राम स्वच्छ पर्यावरण, संस्कृति-संरक्षण और प्राथमिक उद्योगों के केन्द्र होते हैं। आत्म-साधना के लिए भी शान्त सुरम्य ग्राम्य परिवेश अधिक उपयुक्त होता है। कथित विकास की आँधी में भारत के आत्म-निर्भर और सक्षम गाँव आज कमजोर पड़ते जा रहे हैं। भगवान महावीर द्वारा प्रतिपादित अणुव्रती जीवनशैली ग्राम्य अर्थव्यवस्था को उत्कर्ष प्रदान करती है।

(2) नगरधर्म-जिस प्रकार गाँव के प्रति अपना फर्ज़ निभाना ग्रामधर्म है, उसी प्रकार नगर के प्रति अपने दायित्व निभाना नगरधर्म है। स्थानांग सूत्र (10/136) में ग्राम-स्थविर की भाँति नगर-स्थविर की व्यवस्था का उल्लेख भी है। जिनकी तुलना वर्तमान के नगर पालिका, परिषद् या निगम के अध्यक्ष, सभापति या महापौर से की जा सकती है। नगरवासियों का दायित्व अपने नगर के प्रति इसलिए भी अधिक बनता है कि वे ग्रामवासियों से अधिक विकसित अवस्था में जीवनयापन करते हैं। इसके अतिरिक्त नगरों का विकास वनों, गाँवों व ग्रामवासियों पर निर्भर है।

नगरवासियों तथा नगर निकायों को चाहिये कि वे पर्यावरण संरक्षण, मूक प्राणियों की रक्षा और गाँवों के विकास के लिए अपने दायित्व को समझें और निभाएँ। नगर निकायों द्वारा ऐसा कोई नियम नहीं बने जिससे ग्रामवासियों, वनवासियों और पशु-पक्षियों के जीवन-विकास पर प्रतिकूल प्रभाव हो। दूसरों के विकास की कीमत पर अपना विकास किसी भी दृष्टि से उचित नहीं होता है।

(3) राष्ट्रधर्म-देश के प्रति अपना कर्त्तव्य निभाना राष्ट्रधर्म है। जिस देश के नागरिक राष्ट्रीयता की भावना अपने हृदय में संजोते हैं, वह देश अजेय होता है। उस पर किसी भी प्रकार के राजनैतिक, सांस्कृतिक और आर्थिक आक्रमण की आशंका व सम्भावना नहीं रहती है। राष्ट्रीय-नियमों, प्रतीकों आदि को लेकर जो राष्ट्रीय-चेतना नागरिकों में होनी चाहिये, उस चेतना का विकास आगमों में वर्णित गृहस्थाचार से सहज रूप से होता है। एक अहिंसा व्रतधारी गृहस्थ भी अवसर आने पर देश की रक्षार्थ शस्त्र उठाने से नहीं हिचकता है। अहिंसा अणुव्रत के अन्तर्गत महाराजा चेटक का उदाहरण दिया जाता है कि श्रावक के लिए विरोधिनी हिंसा का त्याग पूर्णतया शक्य नहीं है।[4]

भारत के आजादी आन्दोलन में राजस्थान के प्रथम स्वतन्त्रता सेनानी के रूप में देशभक्त श्रावक अमरचन्द बाँठिया का नाम दर्ज है।[5] बीकानेर निवासी अमर शहीद बाँठिया ने अन्तिम इच्छा के रूप में सामायिक-व्रत की आराधना करके अपने प्राणों की बाजी लगा दी, परन्तु राष्ट्रधर्म से विचलित होना उचित नहीं समझा। मेवाड़ उद्धारक दानवीर श्रावक भामाशाह ने अकबर के वैभवशाली जीवन के प्रलोभनों को ठुकराकर अनुपम देशभक्ति का परिचय दिया। राष्ट्रधर्म के उपासक कर्त्तव्यनिष्ठ राज्याधिकारियों, कर्मचारियों और नागरिकों की सेवाओं से ही राष्ट्र में सर्वांगीण प्रगति की राह प्रशस्त होती है।

(4) नीतिधर्म (पाखण्ड-धर्म)-देश-काल के अनुसार शब्दों के अर्थ और भावों में अन्तर हो जाता है। यहाँ 'पासंड' का अर्थ है पापों का खण्डन करने वाला आचरण। स्पष्ट है कि यहाँ पाखण्ड का आशय ढोंग या कर्मकाण्ड से नहीं है; अपितु अनुशासित, संयमित, सदाचारिक तथा नीतिपूर्ण जीवन से है। इसलिए वर्तमान में 'पासंडधम्मे' का अर्थ नीति-धर्म करना उपयुक्त है। न्याय-नीति के अनुपालन से ही समाज व देश में शान्ति और व्यवस्था बनी रहती है तथा भ्रष्टाचार व अनाचार नहीं पनपता है।

जैनाचार में गृहस्थ के बारह व्रतों (5 अणुव्रत, 3 गुणव्रत तथा 4 शिक्षाव्रत) के सारे नियम और उपनियम व्यक्ति को विवेकशील और नीतिवान नागरिक बनाते हैं। शिक्षा-प्रणाली में नैतिकता का सुस्पष्ट समावेश करके नीतिधर्म के अनुपालन को प्रोत्साहित किया जाना चाहिए। प्राकृत अभिलेखों के अनुसार सम्राट अशोक ने तो सदाचार और चरित्र-विकास के लिए एक स्वतन्त्र मन्त्रालय ही स्थापित कर दिया था।[6] नैतिकता से ही धार्मिकता प्राणवान और मनुष्यता दीप्तिमान बनती है। अत: नीतिधर्म का पालन करना चाहिए।

(5) कुलधर्म-कौटुम्बिक श्रेष्ठ परम्पराओं का अनुपालन कुलधर्म के अन्तर्गत परिगणित है। व्यक्ति को अपने कुल की मान-मर्यादाओं का ध्यान रखना चाहिए। महासती राजीमती ने भग्नचित्त मुनि रथनेमी को उनके कुल-गौरव की याद दिलाई और साहस के साथ संयम की रक्षा की। इससे रथनेमी पुन: धर्म में स्थित हो गये।[7]

यदि किसी कुल या कुटुम्ब में कोई कुरूढ़ि या गलत परम्परा है तो उसका निराकरण करना भी कुलधर्म ही है। जैन कथा साहित्य में आता है कि कालशौकरिक

कसाई का पुत्र मगध के महामन्त्री अभयकुमार का मित्र था। अच्छी संगति के कारण कसाई-पुत्र ने अपना पारिवारिक खूनी धन्धा अपनाने से स्पष्ट मना करके सच्चे कुलधर्म का निर्वहन किया।

कुलधर्म का एक अर्थ यह है कि सभी कुटुम्बीजन प्यार और सहकार के साथ रहें। कुल के जो ज्येष्ठ व श्रेष्ठजन हैं, उनकी भावनाओं व आज्ञाओं का सम्मान करें तथा जो वृद्ध व बीमारजन हैं, उनकी यथेष्ट सार-सम्भाल करें। बड़े, छोटों का ध्यान रखें और छोटे, बड़ों का। जिस समाज में कर्त्तव्यपरायण कुल व कुटुम्ब होते हैं, वह समाज निरन्तर प्रगति करता है।

(6) गणधर्म–गण का अर्थ समान आचार-विचार के व्यक्तियों के समूह से है।[8] इस अर्थ में किसी क्षेत्र-विशेष, रुचि-विशेष या व्यवसाय-विशेष के वर्ग या समूह को गण कहा जा सकता है। जो व्यक्ति जिस समुदाय का प्रतिनिधित्व करता है, उसे उसके नियमों का पालन करते हुए सामुदायिक उत्कर्ष के लिए यत्नशील रहना चाहिए, यह गणधर्म है।

गणतन्त्र के सन्दर्भ में गण का अर्थ विभिन्न आचार-विचार के व्यक्तियों के समूह से होता है। गणतन्त्र में सभी प्रकार के व्यक्ति होते हैं। इसके बावजूद एक न्यूनतम आचार-संहिता ऐसी होती है, जो सबके लिए अनुपालनीय होती है। वर्धमान महावीर की जन्मस्थली कुण्डपुर ज्ञातृ-क्षत्रियों का गणराज्य था। उनके पिता राजा सिद्धार्थ उसके गण-प्रमुख थे तथा मामा महाराजा चेटक वैशाली गणराज्य के राष्ट्राध्यक्ष थे। स्पष्ट है कि वर्धमान गणतान्त्रिक वातावरण में पले-बढ़े थे। मौजूदा लोकतान्त्रिक प्रणाली के सूत्र महावीरकालीन गणतन्त्र की व्यवस्थाओं में मिलते हैं। इस अर्थ में गणधर्म के अन्तर्गत समता, स्वतन्त्रता, स्वायत्तता, सह-अस्तित्व आदि जीवनमूल्यों के अनुपालन व अनुरक्षण का दायित्व आता है।

(7) संघधर्म–भगवान महावीर की धार्मिक व्यवस्था के रूप में श्रमण, श्रमणी, श्रावक और श्राविका मिलाकर चतुर्विध संघ होता है। नन्दीसूत्र में ऐसे परमोपकारी संघ की बड़ी महिमा बताई गई है। संघ के चारों ही स्तम्भों (श्रमण, श्रमणी, श्रावक, श्राविका) का कर्त्तव्य है कि वे संघीय मर्यादा व अनुशासन में संघ-विकास के लिए अपना योगदान करें। गृहस्थ वर्ग का कर्त्तव्य है कि वह संघ-विकास के लिए अपने संसाधनों का विवेकसम्मत नियोजन करें। संघ का दूसरा रूप गणों का समूह होता है। भगवान महावीर के समय में लिच्छवि, ज्ञातृ, विदेह आदि आठ गणराज्यों का एक

वज्जिसंघ था, वैशाली जिसकी राजधानी थी। सदस्य अथवा नागरिक के रूप में ऐसे संघों के प्रति अपने कर्त्तव्यों का पालन करना संघ-धर्म है। गण-धर्म और संघ-धर्म में सामूहिक कर्त्तव्य और सम्बन्धित समूह के प्रति वैयक्तिक कर्त्तव्य, दोनों का पालन अभिप्रेत है।

(8) श्रुतधर्म-श्रुत का पारम्परिक अर्थ है लिपिबद्ध आप्तवचन। इन वचनों का, आगमों व आगम-तुल्य ग्रन्थों का स्वाध्याय करना तथा इनके प्रति अपनी प्रतिबद्धता रखना श्रुतधर्म है। व्यक्ति को ऐसे महान श्रुत में से उत्तम अर्थ की खोज करनी चाहिये।[9] श्रुतधर्म की आराधना के लिए सम्यग्ज्ञान का भाँति-भाँति से अध्ययन-अन्वेषण, प्रचार-प्रसार और विस्तार करना चाहिए। श्रेष्ठ कोटि का नवसृजन एवं समाज में फैले अन्धविश्वासों और जड़ताओं को मिटाने के प्रयास भी श्रुतधर्म के सोपान हैं। आज व्यक्ति से लेकर समष्टि तक सारा विकास ज्ञानाधारित हो गया है। भगवान महावीर ने उसी ज्ञान को श्रेष्ठ व सम्यक् कहा है जो व्यक्ति को अहिंसा के मंगलपथ से विचलित नहीं करें।[10] विद्वत् निर्माण, साहित्य निर्माण और विद्वानों का समुचित मान-मूल्यांकन करना भी श्रुतधर्म की आराधना है।

(9) चारित्रधर्म-इस धर्म के अन्तर्गत मुख्यत: आध्यात्मिक साधना को लिया जाता है। इसके दो वर्ग हैं- आगार (गृहस्थ) धर्म तथा अनगार (मुनि) धर्म। गृहस्थ धर्म में अणुव्रतों के पालन से जीवन को अर्थपूर्ण बनाने की साधना की जाती है तो अनगार जीवन में महाव्रतों के पालन से आत्मसाधना की जाती है। आत्मसाधना की दृष्टि से दस प्रकार के धर्म (क्षमा, निर्लोभता, ऋजुता, मृदुता, लघुता, सत्य, संयम, तप, त्याग और ब्रह्मचर्य) का पालन चारित्रधर्म के अन्तर्गत हो जाता है। चारित्रधर्म के सारे व्रत, नियम और आराधनाएँ व्यक्ति को संयमित व तेजस्वी तथा समाज को अनुशासित व सुदृढ़ बनाती हैं। तथ्य है कि सुव्यवस्थित समाज और सुरक्षित राष्ट्र में ही श्रुतरक्षा तथा चारित्रधर्म की श्रेष्ठ आराधनाएँ सम्भव होती हैं।

(10) अस्तिकायधर्म-तत्त्वज्ञान और द्रव्यविज्ञान को समझना-समझाना अस्तिकायधर्म है। जैन दर्शन में वर्णित छह द्रव्यों में से काल द्रव्य को छोड़कर शेष पाँच (धर्म, अधर्म, जीव, पुद्गल और आकाश) द्रव्यों को अस्तिकाय माना गया है। द्रव्य का विशेष ज्ञान हमारे दृष्टिकोण को वैज्ञानिक, शोधात्मक, तर्कसंगत और निष्पक्ष बनाता है। अस्तिकायधर्म हमें सन्देश देता है कि हमारे मन-मस्तिष्क के द्वार नित नये

ज्ञान-विज्ञान को जानने के लिए सदैव खुले होने चाहिये। तत्त्वज्ञान से परिपूर्ण विराट दृष्टिकोण से नई सम्भावनाओं एवं नये अन्वेषण के द्वार सदैव खुले रहते हैं। इससे ज्ञान-विज्ञान का विकास होता है और अज्ञान-कुज्ञान का विनाश होता है। किसी भी प्रकार के ज्ञान या विज्ञान के उपयोग व प्रयोग में विवेक का विस्मरण नहीं होना चाहिए।

उपसंहार-धर्म के अनेक अर्थ, प्रकार और आयाम होते हैं। स्थानांग सूत्र में वर्णित ये दस धर्म एक-दूसरे के पूरक और सहयोगी हैं। ये धर्म व्यक्ति को समग्रता और पारस्परिकता का बोध प्रदान करते हैं। इन धर्मों के माध्यम से यह सन्देश दिया गया है कि व्यक्ति को सिद्धान्त और व्यवहार में सन्तुलन एवं प्रवृत्ति और निवृत्ति में विवेक रखना चाहिए। समय, क्षेत्र, व्यक्ति और परिस्थिति के अनुसार सामान्य और विशेष तथा मुख्य और गौण का निर्धारण करने में धर्म का यह वर्गीकरण बहुत सहायक बनता है। इस वर्गीकरण में जीवन के अनेकान्त को साकार किया गया है। इन दस धर्मों के अन्तर्गत धर्म शब्द मुख्यत: कर्त्तव्य का बोधक है। हर व्यक्ति समाज का सदस्य और देश का नागरिक होता है। उसे अपनी क्षमता, सामर्थ्य, योग्यता, जवाबदेही, समय आदि को ध्यान में रखते हुए अपने कर्त्तव्यों का निष्ठापूर्वक पालन करना चाहिए।

सन्दर्भ ग्रन्थ

1. 'उट्ठिए नो पमायए'-आचारांग 1/5/2, 'सव्वं सुचिण्णं सफलं नराणं'- उत्तराध्ययन 13/10, 'किरियं च रोयए धीरो'-वही 18/33
2. 'अणट्ठाजे य सव्वत्था परिवज्जेज्ज'-उत्तराध्ययन 18/30, 'अकिरियं परिवज्जए'-वही 18/33
3. ठाणांग सूत्र 10/135; द्रष्टव्य-जवाहराचार्य का प्रवचन संकलन 'धर्म और धर्मनायक'
4. द्रष्टव्य, आचार्य श्री हस्ती प्रणीत जैन धर्म का मौलिक इतिहास, भाग प्रथम, पृ. 742-743
5. राजस्थान पत्रिका (6 जून 2002) में विजय भण्डारी का लेख। देखें, माँगीलाल भूतोड़िया की पुस्तक 'इतिहास की अमर बेल ओसवाल' में शहीद अमरचन्द बाँठिया का जीवन।
6. जैन, प्रेमसुमन (डॉ.) प्राकृत भारती, 'अशोक के अभिलेख' अध्याय।
7. उत्तराध्ययन सूत्र, 22वाँ अध्ययन, गाथा क्र. 42-47
8. जैन, सागरमल (प्रो.) जैन, बौद्ध तथा गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, भाग 2, पृ.-244
9. सुयमहिट्ठिज्जा उत्तमट्ठ गवेसए। जेणऽप्पाणं परं चेवं, सिद्धिं संपाउणेज्जासि।-उत्तराध्ययन सूत्र 11/32
10. 'एवं खु नाणिणो सारं, जं न हिंसइ किंचण'-सूत्रकृताङ्गसूत्र 1/10

-निदेशक : अन्तरराष्ट्रीय प्राकृत अध्ययन व शोध केन्द्र

7, अय्या मुदली स्ट्रीट, साहुकारपेट, चेन्नई-600001

आदर्श जीवन-पद्धति : स्थानाङ्गसूत्र के परिप्रेक्ष्य में

-त्रिलोकचन्द जैन, जयपुर

ये जिन्दगी है एक जुआ,
कभी जीत भी, कभी हार भी,
यहाँ दुश्मनों की भीड़ में, मिल जायेंगे तुझे यार भी,
तु खेलता जा, खेलता जा, बाजियों पे बाजियाँ।।

फिल्म 'जिन्दगी एक जुआ' का यह गीत जीवन की सच्चाई को प्रकट करता है। जीवन में सुख और दु:ख रूपी जीत-हार का संयोग रहता ही है। कभी सुख में भी दु:ख, तो कभी दु:ख में भी सुख के प्रसंग मिल ही जाते हैं। इस जीवन में सुख रूपी जीत और दु:ख रूपी हार का प्राप्त होना पूर्वकर्मानुसार है। हमें तो पुरुषार्थ सुख-दु:ख रूपी हार-जीत से ऊपर उठकर दोनों ही प्रसंगों में एक आदर्श जीवनकला का प्रदर्शन करना है। तभी हम जीवन में विजय को प्राप्त कर सकते हैं। जीवन में प्राप्त सुख-दु:ख को महत्त्व नहीं देकर सुख-दु:ख में जीवन जीने की अपनी कला को महत्त्व देना होता है, तभी प्रेरक जीवन का ढ़ाँचा खड़ा होता है। बाइबिल में भी कहा है-Good Life is necessary step for goldly life. परम जीवन तक पहुँचने के लिए श्रेष्ठ जीवन एक आवश्यक चरण है।

श्रेष्ठ जीवन के लिए परम जीवन जीने वालों द्वारा प्ररुपित जीवन-पद्धति को अपनाना होता है। जो कि हमें आगम-शास्त्रों में अनेक सूत्रों के माध्यम से प्राप्त होती है। आगम-शास्त्रों में गूढ़ अर्थ से युक्त स्थानांगसूत्र का विशेष स्थान है। स्थानांगसूत्र में जीवन जीने की कला का अनेक सूत्रों के माध्यम से निरुपण है। इसका मात्र चतुर्थ स्थान ही अनेक प्रकार की श्रेष्ठ जीवन-पद्धति का प्ररुपण कर देता है। सम्पूर्ण स्थानांगसूत्र के आधार पर जीवन जीने की कला का निरुपण संक्षिप्त रूप में करने का प्रयास किया जा रहा है-

(1) कृतज्ञ भाव से युक्त-'परस्परोपग्रहो जीवानाम्' उक्ति के आधार पर प्रत्येक व्यक्ति का जीवन एक-दूसरे के उपकार से अनुग्रहित है। अनेकों के उपकार

के फलस्वरुप ही यह जीवन जिया जाता है। ये भारतीय संस्कृति है कि उपकारियों के प्रति व्यक्ति एहसानमन्द अर्थात् कृतज्ञ भाव सदा रखता है। कृतज्ञता अर्थात् जिसमें उपकारी के प्रति धन्यवाद का भाव होता है। कृतज्ञता का भाव धार्मिकता का पहचान पत्र है। क्योंकि कृतघ्नी को महापापी बताया गया है। कृतज्ञ व्यक्ति उपकारियों का नाम पत्थर पर उकेरने के समान अपने भीतर अंकित रखता है, जिससे हमेशा उपकार याद रह सके।

स्थानाङ्गसूत्र का तीसरा ठाणा उपकारियों के प्रति कृतज्ञता का बखान कर रहा है। माता-पिता, कलाचार्य और धर्माचार्य ये तीन ऐसे उपकारी हैं, जिनके उपकार से उऋण होना दुष्कर बताया है।[1] जिन्दगी भर इन महापुरुषों के प्रति कृतज्ञ रहना होता है। इस देह पर परम उपकार माता-पिता का होता है, इस जीवन पर परम उपकार जीवन चलाने की कला सिखाने वाले कलाचार्य का होता है और इस जीवन को जीतने का मार्ग बताने वाले धर्माचार्य का परम उपकार होता है। मुख्यत: इन तीन को बताया है, परन्तु प्रत्येक उपकारी के प्रति कृतज्ञ रहने वाला विश्वसनीयता को प्राप्त करता है।[1] जीवन सञ्चालन में विश्वसनीयता की नितान्त आवश्यकता होती है। उपकारियों के गुणों का अपने में आविर्भाव भी कृतज्ञता का भाव प्रदर्शित करने से होता है।[2]

एक बार एक वृक्ष आग की लपटों से घिरा जल रहा था। चिन्तक वृक्ष पर रहे पक्षियों से गुहार लगाकर कहता है-

आग लगी इस वृक्ष में, जलन लगे सब पात।
तुम पंछी क्यों जलत हो, पंख तुम्हारे साथ।।

चिन्तक की बात सुनने पर अपनी कृतज्ञता का प्रदर्शन करते हुए पक्षी कहते हैं-

फल खाये इस वृक्ष के, बींट बिगाड़ी पात।
यही हमारा धर्म है, हम जले इसी के साथ।।

पक्षियों के कृतज्ञभाव का दिग्दर्शन प्रेरणादायी है। क्योंकि संसार में देखा जाता है कि स्वार्थपूर्ति तक ही व्यक्ति उपकारी को याद रखता है, लेकिन जैसे ही स्वार्थ में बाधा पड़ती है तो वह उपकारी को विस्मृत करके स्वच्छन्द विचरण करने लगता है। जीवन व्यवहार में इस प्रकार की कृतघ्नता अपने व्यक्तित्व का विनाश करना है। अपने व्यक्तित्व को निखारने के लिए व्यक्ति में कृतज्ञ भाव की सम्पन्नता आवश्यक रूप से होनी चाहिए।

(2) अविवाद प्रवृत्ति वाला-विवाद जीवन में विषाद को उत्पन्न करता है।

जिसको जीवन के उपयोगी विषयों से ही मतलब होता है वह अविवादी होता है। लेकिन जो सभी विषयों में अपनी भूमिका अदा करना चाहता है, उसे विवाद घेर लेते हैं। विवादग्रस्त के जीवन में तनाव रहता है और वह जीवन जीने की श्रेष्ठ कला से महरुम ही रहता है। जय-पराजय की भावना को लेकर किसी समस्या पर वार्ता करना विवाद कहलाता है और किसी विशेष निर्णय करने की भावना को लेकर वार्ता करना संवाद कहलाता है। संवादी जीवन की समस्याओं का समाधान प्राप्त करता है, जबकि विवादी समस्याओं के समाधान में अहंकार और हीनता को जोड़कर उनमें ही उलझा रहता है।

स्थानांगसूत्र में विवाद के छह भेद बताये हैं, जिनमें विवादी अपने प्रतिपक्षी को नीचा दिखाकर, साम-दाम आदि नीति अपनाकर, निर्णायक को अनुकूल बनाकर, चापलूसी करके, निर्णायकों को प्रतिपक्षी का विरोधी बनाकर, प्रतिपक्षी की मान्यता को ही अपनी मान्यता बताकर मात्र पराजित करने का लक्ष्य रखता है।[3] जीवन के सुखमय संचालन के लिए विवाद त्याज्य है। क्योंकि पराजय से दूसरों का मन दु:खता है और दूसरों का मन दु:खाकर सुखमय जीवन नहीं जिया जाता है।

जहाँ जय-पराजय की भावना होती है वहाँ हिंसा का सम्बन्ध जुड़ जाता है, असत्य का उपयोग हो जाता है, छल-कपट की भावना हो जाती है, कषाय का उद्रेक हो जाता है इसलिए विवाद को त्यागकर अविवादी प्रवृत्ति वाला ही जीवन जीने के मायने समझ पाता है। अविवाद प्रवृत्ति वाला लोकप्रिय होता है और परिवार व समाज में उसकी महत्ता भी निर्विवाद होती है।

(3) अपलिमन्थु-मर्यादाओं के घातक और बाधक तत्त्व पलिमन्थु कहलाते हैं। इन घातक और बाधक तत्त्वों का आचरण जीवन को विषमय बना देता है। इसलिए आदर्श जीवन जीने वाला अपलिमन्थु होता है अर्थात् घातक व बाधक तत्त्वों को अपने से दूर रखता है। जिसको जीवन जीने में किसी भी प्रकार का व्यवधान नहीं चाहिए, वो व्यवधान उत्पन्न करने वाले तत्त्वों से दूरी बनाकर निर्विघ्न जीवन जीता है।

स्थानांगसूत्र में छह पलिमन्थु बताये हैं जो मर्यादित जीवन के बाधक-घातक हैं। प्रथम पलिमन्थु शारीरिक कुचेष्ठा रूप कौकुचिक बताया है। संयमित और मर्यादित व्यक्ति इन्द्रियों व मन को वश में रखने वाला होता है। निष्प्रयोजन हाथ-पैर-मुख-नैत्रों आदि का संचालन मर्यादित जीवन जीने वाले के लक्षण नहीं है। वह

तो कच्छप की भांति होता है जो अपने अंगों को समेटकर रखता है। द्वितीय पलिमन्थु वाचालता है। वाचालता व्यक्ति की कीमत को घटा देती है। वाचाल व्यक्ति जीवन विकास की उच्चता प्राप्त नहीं कर पाता है। वाचाल की वाणी में असत्य का वागरण हो ही जाता है, इसलिए वह सत्य का पालन नहीं कर पाता है। सत्यवक्ता आदर्श व्यक्ति का लक्षण है और वाचालता मूर्खों का लक्षण है।

तीसरा पलिमन्थु चक्षुइन्द्रिय के विषयों में आसक्त रहने वाला है। जो बाहरी लुभावने दृश्यों में रक्त-सक्त बना रहता है, वह जीवन के सही अर्थ को नहीं समझ पाता है। चौथा पलिमन्थु तुनक मिजाजपना होता है। व्यक्ति यदि सभ्य और स्पष्टवादी नहीं होता है तो वह व्यवहार कुशल नहीं बन पाता है। व्यवहार कुशलता जीवन जीने में महत्त्वपूर्ण है। तुनक मिजाजी अप्रियता को प्राप्त रहता है, उसे कोई भी पसन्द नहीं करता है। पंचम पलिमन्थु लोभ है। लोभ आने पर व्यक्ति के प्राय: सभी नैतिक जीवन मूल्यों का ह्रास हो जाता है। जीवन की श्रेष्ठता में निर्लोभता का विशेष स्थान होता है। छठा पलिमन्थु साधना के फल रुप में मात्र भोगों की याचना करने रुप निदान होता है। सांसारिक ऋद्धि, वैभव एवं सुविधाओं को ही सर्वस्व मानकर अपनी आध्यात्मिक साधना को दाँव पर लगाकर अस्तित्व को निम्नता की ओर ले जाने रूप यह निदान पलिमन्थु है।[4]

जीवन को अनेक गुणों से समलंकृत करने वाला, श्रेष्ठ जीने की पद्धति को अपनाने वाला उक्त छह पलिमन्थु रूप दुर्गुणों को त्यागकर अपलिमन्थु बनकर अपने अस्तित्व-व्यक्तित्व को नई ऊँचाई प्रदान करता है।

(4) गौरव रहित-गौरव शब्द सकारात्मक एवं नकारात्मक दोनों अर्थों में प्रयुक्त होता है। इसका सकारात्मक तात्पर्य स्वाभिमान तथा नकारात्मक अर्थ अभिमान होता है। शरीर का सामान्य तापमान 98.2 रहता है, इससे कम तापमान भी असामान्य है तो अधिक तापमान भी असामान्य है। इसी प्रकार सामान्य तापमान स्वाभिमान रूप सकारात्मक गौरव अर्थ का परिचायक है तो असामान्य तापमान अभिमान रूप नकारात्मक गौरव अर्थ का परिचायक है।

व्यवहार जगत में प्राय: इसका सकारात्मक अर्थ ही प्रयुक्त है। अपने देश, कुल, धर्म आदि का गर्व करना, उसका आदर मन में रखना यह गौरव का सकारात्मक पक्ष है। व्यवहार में इसे आत्म-सम्मान का नाम भी दिया जाता है। राणा प्रताप ने अपनी मातृभूमि के स्वाभिमान की रक्षा के लिए सम्राट अकबर से कभी हार नहीं

मानी। रथनेमि को अपने कुल का गौरव याद दिलाकर राजीमती संयम में स्थिर कर देती है। हम हमारे संकल्प में बोलते ही हैं कि 'मैं जैन हूँ, मुझे जैन होने पर गर्व है।' इस प्रकार गौरव का सकारात्मक पक्ष आचरणीय कहा है।

लेकिन आगम में प्राय: गौरव को त्याज्य बताकर उसके नकारात्मक अर्थ को ही लक्षित किया है। अभिमान, अहंकार, घमण्ड, मान रूप गौरव के अनेक पर्यायवाची स्थान-स्थान पर विरमण योग्य ही बताये हैं। ये अभिमान रूप गौरव जीवन-पद्धति में विषमता उत्पन्न करता है। अभिमानी की अपेक्षाएँ पूर्ण नहीं होती हैं, इस कारण वो पग-पग पर विचलित होता है। इसलिए गौरव रहित निरभिमानी व्यक्ति परिवार, समाज और देश के लिए एक आदर्श उदाहरण प्रस्तुत करता है।

महारानी विक्टोरिया अपने राजनैतिक कार्यों को पूर्ण कर सांयकाल अपने महल पर आयी और दरवाजे को खटखटाया। महारानी विक्टोरिया के पति अन्दर बैठे थे, उन्होंने भीतर से कहा-'कौन है ?' महारानी बोली-'मैं महारानी हूँ।' लेकिन दरवाजा नहीं खुला। दो-तीन बार खटखटाने पर भी दरवाजा नहीं खुला तो महारानी बोली-'अरे! मैं विक्टोरिया हूँ, दरवाजा खोलो।' इस बार पति ने झट से दरवाजा खोल दिया। महारानी ने कहा-'जब आपने मेरी आवाज पहचान ली थी तो दरवाजा क्यों नहीं खोला।' पति ने कहा-'पहले महारानी घर के अन्दर आना चाहती थी, जिसकी मुझे जरुरत नहीं थी। बाद में विक्टोरिया भीतर आना चाहती थी, जिसकी घर में जरुरत थी, तो मैंने दरवाजा खोल दिया।' यह वाक्य सुनकर महारानी को महारानी होने के गर्व की पहचान हो गयी।

वैसे तो इस गौरव रूप अहंकार को मान कषाय रूप भी कहा है और इसके 12 पर्यायवाची नाम मान, मद, दर्प, स्तम्भ आदि व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र में[5] तथा मद रुप में 8 भेद जातिमद, कुलमद आदि स्थानांगसूत्र में भी बताए हैं।[6] लेकिन गौरव शाब्दिक रूप में स्थानांग का तीसरा ठाणा तीन प्रकार के गौरव बता रहा है।[7] ऋद्धि गौरव अर्थात् अपनी लौकिक पद, प्रतिष्ठा का अभिमान करना। रस गौरव अर्थात् इन्द्रिय-विषयों की उपलब्धता का अभिमान करना। साता गौरव अर्थात् भौतिक सुखों की प्राप्ति पर अभिमान करना। इन तीन गौरव से युक्त व्यक्ति अपने जीवन में महत्त्वाकांक्षी, लोभी बनकर चंचल एवं मलीन चित्त ही रहता है। श्रेष्ठ जीवन जीने वाला गौरव के उक्त तीनों भेदों से रहित हो निरभिमानता को अपनाकर सर्वजीवों को अपने समान समझकर, सभी का सम्मान करता हुआ प्रसन्नता से जीवन व्यतीत करता है।

(5) प्रतिसंलीनता सम्पन्न–संसार का भौतिक प्रवाह अनुस्रोत है तथा इसके विपरीत अध्यात्म रमण प्रतिस्रोत है। विषयभोगों में, काम–वासनाओं में प्रवृत्त रहना अनुस्रोतगमन है तथा निज स्वरूप की दिशा में रमण करना प्रतिस्रोतगमन है।[8] प्रतिस्रोतगामी को प्रतिसंलीनता सम्पन्न भी कह सकते हैं। प्रतिसंलीनता का अर्थ प्रतिपक्ष में सम्यक् लीन होना, कषायों के उदय को विफल करना, इन्द्रिय–विषयों का निरोध करना, योगों से निवृत्ति करना है।

जीवन के संचालन में अनेक प्रसंगों पर कषाय का उद्रेक होता है। इस कषाय के उद्रेक को दबाना अथवा विफल करना प्रतिसंलीनता है। इस प्रतिसंलीनता की जीवन–पद्धति में विशेष उपयोगिता है अन्यथा कषायों के प्रवाह में बहने से अनेक समस्याएँ जन्म ले लेती हैं। स्थानांगसूत्र में चार प्रकार की प्रतिसंलीनता क्रोध–मान–माया–लोभ के रुप में बतायी हैं।[9] क्रोध–मान–माया और लोभ का प्रभाव जीवन को स्वाभाविक नहीं रहने देता, प्रसन्न नहीं रहने देता, इसलिए इनके प्रतिपक्ष में सम्यक् लीन होना ही जीवन की सफलता है। दु:खों के महासागर नरक में उत्पन्न होने के भी ये ही क्रोध आदि चार कारण हैं।[10]

क्रोध को अग्नि की तथा पर्वत में दरार की उपमा दी जाती है। जीवन को झुलसाने और सम्बन्धों में दरार उत्पन्न करने में यह क्रोध कारण रहा है। क्रोध के फलस्वरुप व्यक्ति घुटन और कुड़कुड़ा महसूस करता है। इसलिए प्रसन्न, खुशमय जीवन के लिए क्रोध के प्रतिपक्ष में लीन अर्थात् समता में रहना जरुरी है। मान सम्बन्धों में द्वेष, तिरस्कार, घृणा का उपजायक है, इसलिए इसके विपरीत विनय के आचरण को जियें। माया कटार का कार्य करती है, जीवन को वक्र बनाती है। सरलता और मैत्री के द्वारा इसका परिहार आवश्यक है। लोभ स्वार्थवृत्ति का परिचायक है। निस्वार्थ सेवा, परोपकार आदि के द्वारा लोभ के प्रतिपक्षी कार्य करना चाहिए। इस प्रकार चारों ही कषायों के विरोधी गुणों को आत्मसात करके आदर्श व्यक्तित्व का निर्माण कर श्रेष्ठ जीवन जी सकते हैं।

(6) आर्य–जो सभी हेय (त्यागने योग्य) धर्मों से दूर हो चुके हैं और उपादेय (आचरण योग्य) धर्म को प्राप्त हैं, वे आर्य कहे जाते हैं। आर्य शब्द की व्युत्पत्ति 'आरात् याति इति आर्य:।' अर्थात् जो दूर से जाता है। जो असभ्य कर्मों से दूरी बनाकर रखता है उसे आर्य कहते हैं। अज्ञात कवि ने इस श्लोक के माध्यम से आर्य के 8 गुणों का उल्लेख किया है–

शान्तस्तितिक्षुर्दान्तश्च, सत्यवादी जितेन्द्रियः।
दाता दयालुर्नम्रश्च, आर्यः स्यादष्टभिर्गुणैः।।

जो शान्त, सहनशील, मनोविजयी, सत्यवादी, जितेन्द्रिय, दानवीर, दयालु और विनीत होता है, वह आर्य कहलाता है। उक्त गुणों से सम्पन्न व्यक्ति जीवन को श्रेष्ठ तरीके से जी सकता है और अन्यों के लिए भी प्रेरक होता है।

स्थानांगसूत्र में आर्य पुरुष का विस्तार से वर्णन है, वहाँ आर्यरूप, आर्य मन आदि अनेक प्रकार की चौभंगियाँ बताकर श्रेष्ठ पुरुष का जीवन बताया है।[11] वेशभूषा, पहनावे से जो सभ्य होता है, जिसके परिधान संस्कारों की कुलीनता बयान करते हों ऐसा आर्यरूप होता है। जिसके मन में सात्त्विक चिन्तन का स्थान होता है वह आर्य मन है। जो विकल्पों में नहीं उलझकर शुभ संकल्पों को धारण करता है वह आर्य संकल्प है। जो संकेतों को समझने वाला हो और जिसकी विवेकवती बुद्धि हो, वह आर्यप्रज्ञ है। जो सकारात्मक दृष्टिकोण से सम्पन्न हो, वह आर्य दृष्टि है। जिसका चरित्र स्वच्छ पानी की तरह बेदाग एवं निर्मल हो वह आर्य शीलाचार है। जिसका व्यवहार में लेन-देन साफ-सुथरा हो, विश्वसनीयता की मिसाल हो, वह आर्य व्यवहार है। जो स्वयं के जीवन को प्रामाणिक रखकर परोपकार करने का श्रम करता हो, वह आर्य पराक्रम है। जिसकी आजीविका कर्मादान रहित अहिंसक हो, वह आर्यवृत्ति है। जो न्याय-नीति सम्पन्न है, वह आर्य याची है। जो वचनों में सत्य, मधुर शब्दों का प्रयोग करता है। वह आर्यभाषी है। जो सेवागुण से सम्पन्न होता है वह आर्यसेवी है।

इस प्रकार अनेक प्रकार के आर्य बताकर इनसे एक श्रेष्ठ आर्य पुरुष का कथन कर उसकी जीवन-पद्धति का परिचय दिया है। आर्य पुरुष की जीवन-पद्धति ही सभी के लिए प्रेरक व अनुकरणीय होती है।

स्थानांगसूत्र का स्वाध्याय विशेष है। इसमें द्रव्यों-तत्त्वों के विवेचन के साथ-साथ पुरुष का मानसिक, वाचिक और कायिक व्यक्तित्व का भी समीचीन वर्णन चौभंगियों आदि के रूप में दिया है। अनेक प्रेरक सूत्रों से अलंकृत यह आगम जीवन जीने के अनेक सूत्र प्रदान करता है। उसमें से संक्षिप्त जीवन-पद्धति प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। लेकिन हम उक्त छह बिन्दुओं को भी यदि जीवन में अपना ले तो हमारा जीवन श्रेष्ठता-उच्चता को प्राप्त हो सकता है।

कृतज्ञता के भाव सदा मन को पवित्र रखते हैं।
अविवादी प्रवृत्ति वाले वचन की शुचिता वरते हैं।।
अपलिमन्थु ही जीवन पथ को सुगमता से पार करता है।
गौरव रहितता से स्वयं का आकलन होता रहता है।।
भोगों में जीवन रस से विमुख करे प्रतिसंलीनता।
जीवन जीने की कला में आर्य ही पाये प्रवीणता।।

सन्दर्भ-सूची

1. तिण्हं दुप्पडियारं समणाउसो। तंजहा-अम्मापिउणो, भट्टियस्स, धम्मायरियस्स। -स्थानांगसूत्र 3/1/87
2. चउहिं ठाणेहिं असंते गुणे दीवेज्जा तंजहा-अब्भासवत्तियं, परच्छंदाणुवत्तियं, कज्जहेउं, कतपडिकतेतिवा। -स्थानांगसूत्र 4/4/622
3. छव्विहे विवादे पण्णत्ते, तंजहा-ओसक्कइत्ता, उस्सक्कइत्ता, अणुलोमइत्ता, पडिलोमइत्ता, भइत्ता, भेलइत्ता। -स्थानांगसूत्र 6/67
4. छ कप्पस्स पलिमंथु पण्णत्ते, तंजहा-कोकुइए संजमस्स पलिमंथु, मोहरिय सच्चवयणस्स पलिमंथु, चक्खुलोलिए ईरियावहियाए पलिमंथु, तिंतिणिए एसणागोयरस्स पलिमंथु, इच्छालोभिए मोत्तिमग्गस्स पलिमंथु, भिज्जा नियाण करणे मोक्ख मग्गस्स पलिमंथु। -स्थानांगसूत्र 6/
5. माणे, मए, दप्पे, थंभे, गव्वे, अत्तुक्कोसे, परपरिवाए, उक्कासे, अवक्कासे, उण्णत्ते, उण्णामे, दुण्णामे। -व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र 12/5
6. अट्ठ मयट्ठाणा पण्णत्ता, तंजहा-जातिमए, कुलमए, बलमए, रुवमए, तवमए, सुत्तमए, लाभमए, इस्सरिए मए। -स्थानांगसूत्र 8/21
7. तओ गारवा पण्णत्ता, तंजहा-इड्ढी गारवे, रस गारवे, साता गारवे। -स्थानांगसूत्र 3/4/505
8. अणुसोय सुहो लोओ, पडिसोओ आसवो सुविहियाणं।
   अणुसोओ संसारो, पडिसोओ तस्स उत्तारो। -दशवैकालिकसूत्र, दूसरी चुलिका-3
9. चत्तारि पडिसंलीणा पण्णत्ता, तंजहा-कोह पडिसंलीणे, माण पडिसंलीणे, माया पडिसंलीणे, लोभ पडिसंलीणे। -स्थानांगसूत्र 4/2/1
10. णेरइयाणं चउहिं ठाणेहिं सरीरुप्पत्ति सिया-कोहेणं माणेणं मायाए लोभेणं। -स्थानांगसूत्र 4/4/623
11. चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तंजहा-अज्जेनाममेगे, अज्ज परिणए एवं अज्जरुवे अज्जमणे, अज्ज संकप्पे, अज्जपन्ने, अज्ज दिट्ठी अज्ज सीलायारे, अज्ज ववहारे, अज्ज परक्कमे, अज्जवित्ति, अज्ज जाई, अज्जभासी, अज्जोभासी, अज्जसेवी।-स्थानांगसूत्र 4/2/21

स्थानाङ्गसूत्र में आलोचना

-श्रीमती विनीता सुराणा, चेन्नई

सभी एक-दूसरे के दोष निकालने में लगे रहते हैं। किसी से कोई भी बात करो, होठों पर शिकायतों का मकरन्द लगा ही रहता है, प्राय: हर व्यक्ति अपने को अच्छा व सच्चा मानता है बाकि सबको बुरा, इस घिनौनी वृत्ति के कारण ही व्यक्ति अशान्त है, परिवार विभाजित है, समाज विक्षुब्ध है और राष्ट्र आतंकित है। सबका समाधान एक ही है कि गुणदर्शी बनो। जिसमें जो अच्छाई है उसी का जिक्र करो।

- आचार्य अभयदेव के अनुसार-मर्यादा पूर्वक अपने सभी दोषों को गुरुजनों के समक्ष प्रकट कर देना आलोचना है।
- भूल, प्रमाद हो जाना स्वाभाविक है, मगर उसे स्वीकार करना और पुन: प्रमाद न करने का संकल्प करना, यह आलोचना का वास्तविक तरीका है।
- कपट रहित ऋजु भावों से आलोचना करने से जीव स्त्री वेद और नपुंसक वेद का बन्ध नहीं करता, पूर्व में अगर अनिकाचित रूप से बन्ध गया हो तो उसकी निर्जरा-क्षपणा कर देता है। यह आलोचना का एक विशिष्ट फल परिणाम है।

  आलोचना-महासती श्री मृगावतीजी ने गुरुणीजी के उपालम्भ को अन्यथा भावों में न लेकर सहज भावों से अपनी भूल का पश्चात्ताप किया तो उसी रात्रि में केवलज्ञानी बन गई। वैसी ही आलोचना की थी महासती श्री चन्दनबालाजी ने अपने विनीत, सरल हृदया महासती को दिये गये उपालम्भ का घोर पश्चात्ताप करती हुई उसी रात्रि में वे भी सर्वज्ञ बन गई।
- पश्चात्ताप वो अग्नि है जो कर्मों के कचरे को जला डालती है और प्रायश्चित वो पानी है जो जले हुए कर्म-कचरे को बहाकर बाहर निकाल देता है।

  ऐतिहासिक प्रसङ्ग है कुमारपाल राजा का जिन्होंने उत्कृष्ट आलोचना की थी। एक दिन घेवर खाते कड़-कड़ की आवाज सुनते ही महाराज को कभी तले-भुने माँस खाने की स्मृति हो आई तुरन्त सम्भल गए, उनके गुरु हेमचन्द्राचार्य से स्मृति दोष का प्रायश्चित्त माँगा, गुरु ने दाँतों को तोड़ने का प्रायश्चित्त बताया, राजा ने दाँतों को तोड़ने के लिए पत्थर उठा लिया, दाँतों

तक ले गए, तुरन्त हेम ने उनका हाथ पकड़ लिया और कहा कि हो गया तेरा प्रायश्चित्त।

- आलोचना करवाई श्री कृष्ण ने द्रौपदी की। पाँच पतियों की तरह कर्ण भी मेरा पति होता तो कितना अच्छा होता, ऐसे पूर्व चिन्तन की आलोचना द्रौपदी ने की। इस गुप्त पाप की आलोचना करवाकर श्री कृष्ण ने द्रौपदी को पाप मुक्त कराया।

- आलोचना कौन कर सकता है? स्थानांग और भगवती में दस बातें बताई-

  1-2. जाति-कुल सम्पन्न हो 3. हृदय विनय सम्पन्न हो, 4. ज्ञानी हो 5. जो कर्मफल-पुनर्जन्मादि में श्रद्धा रखता हो 6. जिसका चरित्र निर्मल हो-शुद्ध आचरण वाला हो। 7. क्षमाशील हो 8. जो इन्द्रियों का दमन करने वाला हो 9. जो निष्कपट सरल हृदय हो और 10. जो अपश्चानुताप अर्थात् पाप करके पश्चात्ताप करे, किन्तु पाप के प्रकट करने में पश्चात्ताप अफसोस न करे। वही आलोचना कर सकता है।

- मनोविज्ञान का सिद्धान्त है कि व्यक्ति अपराध करके जब तक उस अपराध को स्पष्ट रूप से स्वीकार नहीं करता, अपराध बोध से हीन भावना से वह अन्दर ही अन्दर घुटता रहता है और कुंठित होता है। उसके दिलो-दिमाग पर एक भार रहता है। जिसके कारण असन्तुलित, चिड़चिड़ा या विक्षिप्त भी हो सकता है। आलोचना एक तरह का मानसिक उपचार भी है।

न्यूज़ीलैण्ड की घटना है डॉ. नोरमन वीजरपिल एक चिकित्सक मनोवैज्ञानिक और न्यूजर्सी चर्च के प्रवक्ता है। एक महिला ने डॉ. से कहा चर्च में आते ही मेरे शरीर में बुरी तरह से खुजली चलती है और शरीर में चकते जम जाते हैं, जब भी चर्च में आती हूँ मेरी हालत खराब हो जाती है, लगता है मुझे चर्च में आना ही छोड़ना पड़ेगा।

डॉ. ने उसके अन्तर्मन की परतों को कुरेदते हुए पाया कि वह इंटरनल एगजिमा से पीड़ित है, इसका कारण शारीरिक नहीं इंटरनल टेंशन है। डॉ. ने उससे पूछा तुम क्या काम करती हो ? उसने कहा-मैं जो काम करती हूँ उसमें कभी-कभी गोलमाल करती हूँ, रकम चुरा लेती हूँ। हर बार सोचती हूँ चुराई रकम वापस कर दूँगी पर नहीं कर पाती, इस प्रकार कहकर रोने लगी।

डॉ. ने कहा अगर अपराध से मुक्त होना चाहती हो तो मालिक से सारी बात

सच कह दो, सच बताने पर या तो नौकरी से निकाल देगा, या प्रमोशन कर देगा ऐसा करने से रोगमुक्त हो जाओगी।

ओघ निर्युक्ति गाथा 801 में कहा कि बालक जिस प्रकार उचित-अनुचित का विचार किये बिना सरल भाव से सब कुछ कह देता है उसी प्रकार साधक को दम्भ तथा अहंकार भाव से मुक्त होकर आलोचना करनी चाहिए, आलोचना से साधक निर्भय हो जाता है, शुद्धि का द्वार खुल जाता है।

आज समस्त विश्व एक ही चीज की खोज में लगा है वह है सुख की प्राप्ति। सम्पूर्ण विश्व में अनेक दर्शन पाये जाते हैं। हर दर्शन की अलग-अलग मान्यता है, कोई कहता है खाओ-पीओ मौज करो, कोई कहता है मुझ पे समर्पित हो जाओ, कोई कहता है मैं ईश्वर का मसीहा हूँ, मेरी बात पर भरोसा करो, तरीके सबके अलग-अलग है, पर कामना सब की एक ही है। पर सूक्ष्मता से यदि चिन्तन किया जाए तो एक भी दर्शन ऐसा नहीं है, जो हमें भगवान बनने का मार्ग प्रशस्त करता है। मात्र जैन दर्शन ही एक ऐसा दर्शन है जो इतनी सूक्ष्मता और रहस्य को उद्घाटित करता है कि हर आत्मा में अनन्त शक्ति है और समस्त आत्मा में परमात्मा बनने की शक्ति है। कहीं कुछ बिंदु हैं जिसके साफ होने से आत्मा परम पावन और पवित्र बन जाती है। इसमें कुछ ऐसी साधनाएँ हैं जैसे-आत्म विशुद्धि आलोचना-Process thats the purification of soul.

उदाहरण-अनादि काल से ये आत्मा 4 गति, 84 लाख जीवयोनि में गमन कर रही है, क्योंकि आत्मा में कर्म रूपी मैल लगे हुए हैं-उन कर्मों का बोझ कैसे हटेगा ? जैसे-घर में कचरा कब तक सुरक्षित रहता है जब तक, किसी की नजर उस पर नहीं पड़े तब तक, फिर तो उसे निकालना ही होगा। आलोचना देखने का कार्य है। आलोचना मृगलोचनी के समान होनी चाहिए। जैसे-मृग चारों और देखता है उसी प्रकार आलोचना होनी चाहिए।

आलोचना दोषों की जाती है। ठाणांग सूत्र के 10वें ठाणे के 67वें सूत्र में प्रतिसेवना (दोष) 10 प्रकार की कही गई है-

(1) दर्पप्रतिसेवना-दर्प या उद्धत भाव से जीव का घात आदि करना। अहंकारवश संयम की अथवा जीव की विराधना करना, उछलना आदि। **(2) प्रमाद प्रतिसेवना**-विकथा आदि प्रमाद के वश जीव का घात आदि करना। पाँच प्रमाद के वश होकर संयम की अथवा जीव की विराधना करना, कायविकार आदि के वश होकर प्राणातिपात आदि दोषों का सेवन करना। **(3) अनाभोग प्रतिसेवना-**

विस्मृति वश या उपयोग शून्यता से अयोग्य वस्तु का सेवन करना। उपयोग नहीं होने से अज्ञान वश (संयम में) दोष लगाना। अनुपयोग या विस्मरण हो जाने पर प्राणातिपात दोष लगाना। **(4) आतुर प्रतिसेवना**–भूख-प्यास आदि से पीड़ित होकर ओघ संज्ञा से जीव लालायित हो उठता है और किसी समय आहार-विवेक का भाव नहीं रह पाता और दोष लगता है। **(5) आपत्ति प्रतिसेवना**–आपत्ति आने पर अयोग्य कार्य करना। आपत्ति बिन बुलाए मेहमान के समान है। संकट के समय यदि उपयोग नहीं रखा, सही/गलत का भान नहीं रखा तो द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव रूप में दोष उत्पन्न होता है। **(6) शंकित प्रतिसेवना**–एषणीय वस्तु में भी शंका होने पर उसका सेवन करना। अनेषणीय आहार होने की शंका होने पर भी उसे लेकर प्राणातिपातादि दोषों का सेवन करना। **(7) सहसाकार प्रतिसेवना**–अकस्मात् किसी अयोग्य वस्तु का सेवन हो जाना। सहसा-बिना सोचे-समझे यकायक कार्य कर प्राणातिपात आदि दोषों का सेवन करना। **(8) भय प्रतिसेवना**–भय वश किसी अयोग्य वस्तु का सेवन करना। राजा, सरकार, चोर आदि के डर से प्राणातिपादि आदि दोष लगाना। **(9) प्रदोष प्रतिसेवना**–द्वेष-भाव, जीव का घात आदि करना। **(10) विमर्श प्रतिसेवना**–शिष्यों की परीक्षा के लिए किसी अयोग्य कार्य को करना।

आलोचना कौन-सा जीव नहीं कर सकता–ठाणांग सूत्र के 8वें ठाणे का 9वाँ सूत्र आठ कारणों से मायावी पुरुष माया करके न उनकी आलोचना करता है, न प्रतिक्रमण करता है, न निन्दा करता है, न गर्हा करता है, न व्यावृति करता है, न विशुद्धि करता है, न पुन: वैसा न करूँगा, ऐसा कहने को उद्यत होता है, न यथा योग्य प्रायश्चित और तप कर्म को स्वीकार करता है। वे आठ कारण इस प्रकार है।

(1) मैंने अकरणीय कार्य किया, (2) मैं अकरणीय कार्य कर रहा हूँ, (3) मैं अकरणीय कार्य करूँगा, (4) मेरी अकीर्ति होगी, (5) मेरा अवर्णवाद होगा, (6) मेरा अविनय होगा, (7) मेरी कीर्ति कम होगी, (8) मेरा यश कम हो जाएगा इन आठ कारणों से मायावी माया करके भी उसकी आलोचना आदि नहीं करता है।

दूसरों की आलोचना नरक की सीढ़ी है तो स्व आलोचना स्वर्ग और मोक्ष की सीढ़ी है। स्व आलोचना स्वस्थ बुद्धि और स्वस्थ हृदय से की जाती है, इसलिए आलोचना आत्मा के माया, निदान और मिथ्यादर्शन शल्यों का उद्धरण कर देती है। ये तीनों शल्य मोक्ष मार्ग के बाधक तत्त्व हैं। परन्तु आलोचना जब करे तब भी निर्दोषता का ध्यान रखना चाहिए।

आलोचना के 10 दोष–ठाणांग सूत्र के 10वें ठाणे के 70वें सूत्र में-

(1) अकम्पित दोष–सेवा आदि के द्वारा प्रायश्चित्त देने वाले की आराधना कर आलोचना करना, गुरु की सेवा करने से वे मुझे लघु प्रायश्चित्त देंगे, ऐसा विचार कर उनके पास दोषों की अलोचना करना। काँपते हुए आलोचना करना कि गुरु अल्प प्रायश्चित्त दे। (2) अनुमान्य या अनुमानितदोष–मैं दुर्बल हूँ, मुझे अल्प प्रायश्चित्त देवें, इस भाव से अनुनय कर आलोचना करना। शारीरिक शक्ति का अनुमान लगाकर तद्नुसार दोष–निवेदन करना, जिससे कि गुरु उससे अधिक प्रायश्चित्त न दें। (3) यद्दृष्ट दोष–गुरु आदि के द्वारा जो दोष देख लिया गया है, उसी की आलोचना करना, अन्य अदृष्ट दोषों की नहीं करना। दूसरों के द्वारा अदृष्ट दोष छिपाकर दृष्ट दोष की आलोचना करना। (4) बादर दोष–केवल स्थूल या बड़े दोषों की आलोचना करना। छोटे दोषों की आलोचना नहीं करना। (5) सूक्ष्म दोष–दोष कहने से गुरु से प्रायश्चित्त मिलेगा, यह सोचकर छोटे–छोटे दोषों की आलोचना करना। (6) छत्त दोष–इस प्रकार से आलोचना करना कि गुरु सुनने न पावे। किसी बहाने से दोष बताकर स्वयं प्रायश्चित्त ले लेना, अथवा गुप्त रूप से एकान्त में जाकर गुरु से दोष प्रकट करना जिससे की दूसरे सुन न पावें। (7) शब्दाकुलित दोष–जोर–जोर से बोलकर आलोचना करना, जिससे कि दूसरे अगीतार्थ साधु सुन लें। पाक्षिक आदि प्रतिक्रमण के समय कोलाहल पूर्ण वातावरण में अपने दोष की आलोचना करना। (8) बहुजन दोष–एक के पास आलोचना कर शंकाशील होकर फिर उसी दोष की दूसरे के पास आलोचना करना। बहु जनों के एकत्रित होने पर उनके सामने आलोचना करना। (9) अव्यक्त दोष–अगीतार्थ साधु के पास दोषों की आलोचना करना। दोषों की अव्यक्त रूप से आलोचना करना। (10) तत्सेवी दोष–आलोचना देने वाले जिन दोषों को स्वयं करते हैं, उनके पास जाकर उन दोषों की आलोचना करना जिससे कि वह बड़ा प्रायश्चित्त न दें। अथवा मेरा दोष इसके समान है, इसे जो प्रायश्चित्त हुआ है, वह मेरे लिए भी उपयुक्त है, ऐसा सोचकर अपने दोषों का संवरण करना। अथवा जिस दोष का प्रकाशन किया है, उसका पुन: सेवन करना।

मूढ़, अविनीत, पापलिप्त और अन्य मनस्क व्यक्ति अपने दोषों को नहीं पहचानता है, और यदि पहचानता है, फिर भी वह कपट आदि के कारण दोषों का प्रकटीकरण शुद्ध रूप से नहीं करता है, उसकी पापवृत्ति इतनी बढ़ जाती है, मानो खेत में खरपतवार बढ़ती है, वह और भी भारी कर्मा बन जाता है।

दशवैकालिकसूत्र की दूसरी चूलिका की 12वीं गाथा–

जो पुव्वरत्तावरत्तकाले, संपेहए अप्पगमप्पएणं।
किं मे कडं किं च मे किच्चसेसं, किं सक्कणिज्जं ण समायरामि।।

जो साधक होता है, वह सर्वप्रथम स्वयं को देखता है, यह उसकी सर्वप्रथम आलोचना है। उदाहरणार्थ-यदि किसी व्यक्ति की दुर्घटना हो जाए और उसका ऑपरेशन करना हो तो सर्वप्रथम उसके घाव को साफ कर सफाई का तरल पदार्थ लगाकर विशेष शुद्धि की जाती है, फिर ही उसका ऑपरेशन किया जाता है।

आलोचना किसके पास करनी चाहिए?

बहु आगम विण्णाण समाहि, उप्पायगा य गुण नाही।
एएण कारणेणं उवरहा आलोयणं सोऊ।।

जो आगमों के विज्ञाता अथवा आलोचक के चित्त में समाधि करने में सक्षम हो, जो गुणग्राही हो ऐसे महापुरुष ही आलोचना सुनने में सक्षम होते हैं।

ठाणांग सूत्र के 10वें ठाणे के 71वें सूत्रानुसार दस स्थानों से सम्पन्न अनगार आलोचना देने के योग्य होता है।

(1) आचारवान-जो ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और वीर्य इन पाँच आचारों से युक्त हो। (2) आधारवान-आलोचना लेने वाले के द्वारा आलोचना कराने वाला दोषों का जानने वाला हो। (3) व्यवहारवान-आगम, श्रुत, आज्ञा, धारणा और जीत, इन पाँच व्यवहारों को जानने वाला हो। (4) अपव्रीडक-आलोचना करने वाले की लज्जा या संकोच छुड़ाकर उसमें आलोचना करने का साहस उत्पन्न करने वाला हो। (5) प्रकारी-अपराधी के आलोचना करने पर उसकी शुद्धि करने वाला हो। (6) अपरिश्रावी-आलोचना करने वाले के दोष दूसरों के सामने प्रकट करने वाला न हो। (7) निर्यापक-बड़े प्रायश्चित्त को भी निर्वाह कर सके, ऐसा सहयोग देने वाला हो। (8) अपायदर्शी-सम्यक् आलोचना न करने के अपायों (दुष्फलों) को बताने वाला हो। (9) प्रियधर्मी-धर्म से प्रेम रखने वाला हो। (10) दृढ़धर्मी-आपत्तिकाल में भी धर्म में दृढ़ रहने वाला हो।

आलोचना कब करनी चाहिए-ओघ निर्युक्ति में आचार्य भद्रबाहु ने कहा है-जैसे शरीर में काँटा चला जाता है तो उसे तत्काल नहीं निकालेंगे तो गहरा चला जाएगा। उसी प्रकार पाप का भान होते ही पहले स्वयं 'मिच्छा मि दुक्कडं' कर लेना चाहिए। फिर गीतार्थ गुरु का सान्निध्य मिले, तब विस्तार से आलोचना करके अपने अन्त:करण को विशुद्ध व पवित्र बना सकते हैं।

मारवाड़ी में कहावत है-मन छाने चौरी नहीं, ज्ञानी छाने भाव नहीं।

आलोचना वह दर्पण है, जिसमें व्यक्ति अपना असली रूप देखता है।

10 स्थानों से सम्पन्न अनगार अपने दोषों की आलोचना करने के योग्य होता है-(1) जाति सम्पन्न, (2) कुल सम्पन्न, (3) विनय सम्पन्न, (4) ज्ञान सम्पन्न, (5) दर्शन सम्पन्न, (6) चारित्र सम्पन्न (7) शान्त (क्षमा सम्पन्न), (8) दान्त (इन्द्रिय-जयी), (9) अमायावी (10) अपश्चात्तापी।

प्रायश्चित्त के दस प्रकार-10वें ठाणे के सूत्र 73 में-(1) आलोचना के योग्य-गुरु के सामने निवेदन करने मात्र से ही जिसकी शुद्धि हो। (2) प्रतिक्रमण के योग्य-'मेरा दुष्कृत मिथ्या हो,' इस प्रकार के उच्चारण मात्र से जिस दोष की शुद्धि हो। (3) तदुभय के योग्य-जिसकी शुद्धि आलोचना व प्रतिक्रमण दोनों से हो। (4) विवेक के योग्य-जिसकी शुद्धि ग्रहण किये अशुद्ध भक्त-पानादि के त्याग से हो। (5) व्युत्सर्ग के योग्य-जिस दोष की शुद्धि कायोत्सर्ग से हो। (6) तप के योग्य-जिस दोष की शुद्धि अनशनादि तप के द्वारा हो। (7) छेद के योग्य-जिस दोष की शुद्धि दीक्षापर्याय के छेद से हो। (8) मूल के योग्य-जिस दोष की शुद्धि पुनः दीक्षा देने से हो। (9) अनवस्थाप्य के योग्य-जिस दोष की शुद्धि तपस्यापूर्वक पुनः दीक्षा देने से हो। (10) पारांचिक के योग्य-भर्त्सना एवं अवहेलनापूर्वक एक बार संघ से पृथक् कर पुनः दीक्षा देने से जिस दोष की शुद्धि हो।

आलोचना जीवन के कल्पवृक्ष के समान है, जिसमें समर्पित साधक अपनी सिद्धि और मुक्ति की कल्पना को साकार करता है। अनन्त संसार का और उसके कारणों का उच्छेद होता है और ऋजुभावों की प्राप्ति और सुरक्षा आत्म-आलोचना से ही होती है। ऋजुभाव ही धर्म का आधार है। जितनी ऋजुता उतनी पवित्रता।

उत्तराध्ययन सूत्र के 29वें अध्ययन का 5वाँ सूत्र आलोचना से प्राप्त होने वाले फल का निर्देश करता है। कहा जाता है आलोचना ही कर्मों को धोने वाला धोबी है। जिसे धोना है, वह वस्त्र आत्मा है, आत्मा पर जो अशुद्धियाँ जम गई, उसे धोने के लिए भेदज्ञान रूपी साबुन और समता रूपी नीर आवश्यक हैं, ये दोनों मिलकर आत्मचीर को उज्ज्वल बना देते हैं।

जैन तत्त्व दर्शन से समझा जाता है कि यदि आत्मसाधक आराधना के पथ पर आगे बढ़कर भी अपनी स्खलनाओं को नजर अन्दाज करता है, उन स्खलनाओं को दूर करने के लिए आत्मशुद्धि के प्रयास में छल-कपट करता है तो विराधक बन जाता है और यदि आत्मशुद्धि हेतु प्रायश्चित्त भाव, निर्मल प्रज्ञा द्वारा कर लेता है तो भव-सागर पार हो जाता है।

स्थानाङ्गसूत्र का महत्त्व

श्री पदमचन्द गाँधी, जयपुर

स्थानाङ्गसूत्र 11 अङ्गों में तीसरा अङ्ग है, जिसे हम जैन संस्कृति का विश्व कोष कहते हैं। स्थानाङ्ग शब्द स्थान' और 'अङ्ग' से बना है। स्थान का अर्थ है 'मान' अर्थात् परिमाण। प्रस्तुत आगम में एक से दस तक परिमाण प्रस्तुत किए हैं, अत: इसे 'स्थान' कहा गया है। स्थान का अर्थ 'उपयुक्त' भी होता है, जिसमें तत्त्वों की संख्या का उपयुक्त निर्देश किया गया है। दूसरा शब्द है 'अङ्ग।' वैदिक साहित्य में प्रमुख ग्रन्थों को संहिता अथवा वेद कहा गया है, जबकि सहायक विविध विषयों के प्रतिवादक गौण ग्रन्थों को 'अङ्ग' कहा गया है। जबकि जैन साहित्य में 'अङ्ग' शब्द प्रधान ग्रन्थों के लिए कहा गया है।

स्थानाङ्ग का महत्त्व–स्थानाङ्ग में एक विषय का दूसरे विषय के साथ किसी तरह का सम्बन्ध नहीं है। इसमें इतिहास, गणित, भूगोल, खगोल, दर्शन, आचार मनोविज्ञान आदि शताधिक विषय संकलित हैं। प्रत्येक विषय का विस्तार से चिन्तन करने की अपेक्षा संख्या के आधार पर विषय का प्रतिपादन किया गया है। प्रस्तुत आगम में अनेक ऐतिहासिक घटनाएँ भी हैं। इसमें कोष की शैली अपनायी गयी है जो स्मरण करने की दृष्टि से उपयोगी है। स्थानाङ्गसूत्र ऐसा विशिष्ट आगम है जिसमें चारों ही अनुयोगों का समावेश है। मुनि श्री कन्हैयालाल जी कमल ने लिखा है कि स्थानाङ्ग में द्रव्यानुयोग की दृष्टि से 426 सूत्र, चरणानुयोग की दृष्टि से 214 सूत्र, गणितानुयोग की दृष्टि से 109 सूत्र और धर्मकथानुयोग की दृष्टि से 51 सूत्र हैं। कुल 800 सूत्र बताये हैं, जबकि मूल सूत्र 783 हैं। उनमें कितने ही सूत्रों का एक-दूसरे अनुयोग से सम्बन्ध है। अत: अनुयोग वर्गीकरण की दृष्टि से सूत्रों की संख्या में वृद्धि हुई है। स्थानाङ्गसूत्र कि महत्ता विविध आयामों में हुई है जिनका वर्णन निम्नानुसार है-

1. प्रतिपाद्य विषय की विविधता–स्थानाङ्ग में विभिन्न कथाओं के संकेत एवं संक्षिप्त उल्लेख भी दर्शाये हैं। जिनमें भरत चक्रवर्ती, गजसुकुमाल, सम्राट सनत्कुमार और मरुदेवी की कथाओं का उल्लेख प्रमुख है। इसमें प्रतिमा साधना की विशिष्ट पद्धति है। पंचम स्थान में भद्रा, सुभद्रा, महाभद्रा, सर्वतोभद्रा और भद्रोतरा

प्रतिमाओं का उल्लेख है। जाति, कुल, कर्म, शिष्य और लिङ्ग के भेद से पाँच प्रकार की आजीविका का वर्णन है। गंगा, यमुना, सरयु, ऐरावती और माही नामक महानदियों का उल्लेख है। चौबीस तीर्थंकरों में से वासुपूज्य, मल्ली, अरिष्टनेमी, पार्श्व और महावीर की कुमारवस्था की प्रवज्या का भी उल्लेख है। इसमें रोगोत्पत्ति के नौ कारणों का उल्लेख है। जिनमें शारीरिक और मानसिक रोग प्रमुख हैं। इसमें आगामी उत्सर्पिणी काल की घटनाओं का उल्लेख है। जैसे भावी तीर्थंकर महापद्म का चरित्र दिया है। इस प्रकार यह आगम विशिष्ट अध्ययनों को प्रस्तुत करता है। जिससे इसकी महत्ता बढ़ जाती है।

इस सूत्र में बीस तीर्थंकर एवं बारह चक्रवर्ती के नामों का उल्लेख किया गया है। दस चक्रवर्ती भरत, सगर, मघवा, सनत् कुमार, शान्ति, कुंथु, अर, महापद्म, हरिषेण और जय ऐसे हैं, जिन्होंने संयम पथ को अपनाकर परम पद को प्राप्त किया है। सुभूम और ब्रह्मदत्त ये दो ऐसे चक्रवर्ती हुए जिन्होंने संयम से विमुख होकर महारम्भी और महापरिग्रही बनकर अन्त में नरक में जाकर दु:ख भोग रहे हैं। इस आगम में स्पष्ट संकेत है कि कर्मों की दृष्टि से किसी का पक्षपात नहीं है जो जैसा कर्म करता है वैसा भरता है। इस अटल सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है।

2. जीव विज्ञान का महत्त्व–स्थानाङ्ग के द्वितीय स्थान में बताया गया है कि बेइन्द्रिय से चतुरिन्द्रिय जीवों तक के शरीर में हड्डियाँ, मांस और रक्त नामक तीन पदार्थ होते हैं। पञ्चेन्द्रिय शिराओं से बना हुआ होता है। द्वितीय स्थान जीव और अजीव, त्रस और स्थावर, सयोगिक और अयोगिक, आयुरहित और आयु सहित, धर्म और अधर्म, बन्ध और मोक्ष आदि विषयों पर प्रकाश डालता है। जिससे जीव विज्ञान का बोध होता है। अजीव तत्त्व के आकाशास्तिकाय, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय का वर्णन तथा अन्य तत्त्वों के बन्ध-मोक्ष, पुण्य-पाप, संवर-निर्जरा और वेदना-निर्जरा का वर्णन है। इसमें जीव और अजीव के निमित्त से होने वाली 25 क्रियाओं का विस्तृत निरूपण है जो जीव विज्ञान में अन्वेषण का विषय है।

3. मानवीय वृत्तियों का अध्ययन–स्थानाङ्गसूत्र के चौथे स्थान में मानवीय स्वभाव का परिचय देने वाले सूत्रों को सबसे अधिक महत्त्व दिया है। कहीं वृक्षों से, कहीं वस्त्रों से, कहीं कोर मञ्जरी से, कहीं कूटागार शाला से, कहीं वृषभ से, कहीं

हस्ती से, कहीं शंख, धूम, अग्नि, वन खण्ड, सेना, पक्षी, यान, युग्म सारथी, फल, बादल आदि से समानता करते हुए सैकड़ों रूपों में मानवीय वृत्तियों का इस सूत्र में वर्णन किया गया है जैसे-

(1) वृक्ष चार प्रकार के होते हैं-पत्र युक्त, पुष्प युक्त, फल युक्त और छाया युक्त, इसी प्रकार मनुष्य भी चार प्रकार के होते हैं- पत्र युक्त वृक्ष के समान केवल आश्रय देने वाले। पुष्प वाले वृक्ष के समान केवल सद्विचार रखने वाले, फल युक्त वृक्ष के समान अन्न-वस्त्र आदि देने वाले और छाया युक्त वृक्ष के समान शान्ति, सुरक्षा और सुख देने वाले।

(2) मेघ चार प्रकार के होते हैं-मेघ गरजता है, बरसता नहीं। बरसता है गरजता नहीं। गरजता भी है, बरसता भी है। न गरजता है और न बरसता है। इसी प्रकार कुछ व्यक्ति बोलते भी हैं पर देते कुछ नहीं, कुछ बोलते भी हैं और देते भी हैं, कुछ व्यक्ति देते हैं पर बोलते नहीं, कुछ न बोलते हैं और न ही देते हैं। इस सूत्र में केवल मेघ, बिजली, गर्जन वर्णन आदि का सम्बन्ध जोड़ते हुए सात रूपों में मेघ के अध्ययन के माध्यम से मनुष्य स्वभाव का वर्णन किया है।

(3) मानव स्वभाव का वर्णन वृक्षों के आकार से किया है। कुछ वृक्ष मूल में सीधे होते हैं, ऊपर जाकर टेढ़े हो जाते हैं। कुछ मूल में भी टेढ़े होते हैं और ऊपर जाकर भी टेढ़े होते हैं। कुछ मूल में सीधे होते हैं और ऊपर जाकर भी सीधे होते हैं। कुछ मूल में टेढ़े होते हैं, ऊपर जाकर सीधे हो जाते हैं। इसी तरह मानव का स्वभाव होता है कितने ही व्यक्ति मन से सरल होते हैं और उनका व्यवहार भी सरल होता है, कुछ हृदय से सरल लेकिन व्यवहार में कुटिल, कुछ मन से सरल नहीं होते लेकिन बाह्य रूप में सरलता का प्रदर्शन करते हैं, कुछ अन्तर में भी कुटिल होते हैं और बाह्य में भी कुटिल होते हैं।

(4) तृतीय स्थान में मनोवैज्ञानिक विषयों को त्रिभंगियों के माध्यम से तीन प्रकार से महत्त्व बताया है- कितने ही मानव बोलने के बाद मन में आह्लाद का अनुभव करते हैं और कितने ही मानव भयंकर दु:ख का अनुभव करते हैं, तो कितने ही मानव न सुख का अनुभव करते हैं और न ही दु:ख का अनुभव करते हैं।

4. मनोवैज्ञानिक महत्त्व-तृतीय स्थान में ऐसे सूत्र स्पष्ट किए गये हैं जो

मनुष्य ही नहीं जीवों की मनोवैज्ञानिक स्थिति एवं दशाओं को स्पष्ट करते हैं। उनकी क्रियाएँ, उनके भावों का, उनकी प्रकृति का क्या-क्या स्वरूप होता है? यह दर्शाया गया है। इनमें से परिचारण (मैथुन सेवन) सूत्र, योगसूत्र, करण (मन, वचन, काया) सूत्र, आयुष्यसूत्र, गुप्ति-अगुप्तिसूत्र, दण्डसूत्र, गर्हासूत्र, प्रत्याख्यानसूत्र, उपकार ूत्र, पुरुषजातसूत्र, स्त्रीसूत्र, पुरुष एवं नपुंसकसूत्र, लेश्यासूत्र, अन्धकार-उद्योत आदि सूत्रों का मार्मिक महत्त्व स्पष्ट किया है। लेश्या सूत्र का महत्त्व बताते हुए कृष्ण, नील, कपोत, तेजो, पद्म एवं शुक्ल लेश्याओं की शुभ-अशुभ स्थितियों का वर्णन किया गया है।

मनोस्थिति का वर्णन

(क) कृष्ण लेश्या के अनुसार-जीवों के शरीर का भौंरे के समान काला होना, क्रोधादिक विषयों के तीव्र उदय से अति प्रचण्ड स्वभाव वाला होना, दया-धर्म रहित हिंसक कार्यों में प्रवृत्ति होना, अपकारी के साथ दुष्ट व्यवहार करना, फल के वृक्ष को देखकर उसे जड़ से उखाड़ना आदि। इसमें क्रूर स्वभाव के मनोवैज्ञानिक महत्त्व को समझाया गया है।

(ख) नील लेश्या के अनुसार-जीवों के शरीर का मयूर कण्ठ के रंग जैसा होना, इन्द्रिय विषयों की तीव्र लोलुपता, हेय-उपादेय के विवेक से रहित, मायाचारी, आलसी प्रवृत्ति का बताया है। दूसरों को ठगने वाला, शाखाएँ काटकर फल खाने वाला बताया है।

(ग) कपोत लेश्या के अन्तर्गत जीवों के शरीर का रंग कबूतर जैसा तथा स्वभाव में जरा-जरा सी बातों पर रूष्ट होना, दूसरों की निन्दा करना, दूसरों का अपमान एवं स्वयं की प्रशंसा करने वाला। फलवान वृक्ष की छोटी-छोटी शाखाएँ काटकर फल खाने की मनोदशा वाले को स्पष्ट किया है।

(घ) तेजो लेश्या में जीवों के शरीर का रंग रक्त या लाल रंग का बताया गया है इसमें जीवों की मनोदशा का कर्तव्य-अकर्तव्य और भले-बुरे की जानकारी होना बताया है। दया-दान करना, मन्द कषायों की स्थिति रखते हुए सबको समान दृष्टि से देखने वाला तथा लदे हुए फलों की छोटी टहनियों को तोड़कर फल लेना, ऐसी प्रवृत्ति स्पष्ट करता है।

(ङ) पद्म लेश्या के अनुसार–जीवों के शरीर का रंग गुलाबी कमल के रंग जैसा वर्णन किया है। भद्र परिणामी, साधुजनों को दान, उत्तम धार्मिक कार्य करना, अपराधी को क्षमा करना तथा फलों के गुच्छों को तोड़ने का स्वभाव प्रकट किया है।

(च) शुक्ल लेश्या के अनुसार जीवों के शरीर का रंग धवल वर्ण बताया है तथा स्वभाव में किसी से राग–द्वेष नहीं करना, पक्षपात नहीं करना। समभाव, व्रत, शील, संयम में रमण करने एवं गिरे हुए फलों को खाने की प्रवृत्ति स्पष्ट की है।

इस प्रकार लेश्याओं का स्वरूप प्रथम एवं तृतीय स्थान में मानव की मनोवैज्ञानिकता को उजाकर करती है।

क्रोधोत्पति का वर्णन स्थान दस में बताते हुए समाधि के कारण, प्रव्रज्या ग्रहण करने के कारण बताये हैं। इसी प्रकार संयम में असमय सुख–दुःख प्राप्ति के कारणों का सकारात्मक रूप से वर्णन समझाया गया है। जिसका मनोविज्ञान से गहरा सम्बन्ध है।

5. आयुर्वेदिक महत्त्व–अष्टम स्थान में कौमारभृत्य (बाल चिकित्सा), काय चिकित्सा (शरीरशास्त्र), शालाक्य (आँख, नाक, कान, मस्तिष्क और गले की विशेष चिकित्सा) आदि जिनका आज भी एलोपैथी में इन अङ्गों का विशेष अध्ययन भिन्न–भिन्न रूप में कराया जाता है। शल्य चिकित्सा (ऑपरेशन), जंगोली (साँप, बिच्छु, आदि के विष की चिकित्सा एवं इनके विषयों के नानाविध प्रयोग), भूत विद्या (भूत–प्रेत आदि के शमन का शास्त्र जो आज पश्चिमी देशों में परा विधा के अन्तर्गत हो रहा है, क्षारतन्त्र (यव क्षार, चणक क्षार आदि द्वारा की जाने वाले चिकित्सा जो आज की बायो केमेस्ट्री प्रणाली में 12 क्षारों पर निर्भर है), रसायन (धातुओं, रत्नों एवं पारा गन्धक आदि द्रव्यों द्वारा तैयार की गयी औषधियाँ) द्वारा चिकित्सा जिसे विशेषत: बलवीर्य की वृद्धि के लिए प्रयुक्त किया जाता है। इन आठों रूपों में उस समय प्रचलित आयुर्वेद की चिकित्सा का वर्णन किया गया है जो आज भी हमारे जीवन में महत्त्वपूर्ण है।

साथ ही नवमें स्थान में रोगोत्पत्ति के नौ कारण बताते हुए लिखा है– अति आहार, अरुचिकर भोजन, अति निद्रा, अति जागरण, मलवेग का रोकना, मूत्र वेग का रोकना, अतिचलना, प्रतिकूल आहार और काम वेग का रोकना या अति विषय

सेवन आदि रोगोत्पत्ति के कारण हैं। ये कारण लोक प्रसिद्ध एवं सर्वमान्य हैं। अत: सम्भवत: इनसे बचा जाये।

इसी प्रकार नौ प्रकार का आयु-परिमाण, दस प्रकार के बल, दस प्रकार की तृण-वनस्पतियाँ, तीन प्रकार की परिचारणा, तीन प्रकार के मैथुन सेवियों के भेद, बिना पुरुष संसर्ग के गर्भ धारण के पाँच कारण, संसर्ग होने पर भी गर्भाधान न होने के पाँच कारण, माता से मिलने वाले तीन अंग, पिता से मिलने वाले तीन अंग आदि विषय आयुर्वेदिक महत्त्व को स्पष्ट करते हैं।

6. खगोलीय महत्त्व-द्वितीय स्थान के तृतीय उद्देशक में 88 ग्रहों का उल्लेख आया है, ज्योतिष शास्त्र में 28 नक्षत्र बताए हैं उनके अधिष्ठाता देवों के नाम का इसमें उल्लेख आया है। आधुनिक खगोल शास्त्रियों ने 9 ग्रहों के अतिरिक्त कुछ अन्य हर्बल आदि ग्रहों का भी पता लगाया है, हो सकता है कि वे स्थानाङ्ग में वर्णित 88 ग्रहों के अन्तर्गत ही हों। स्थान-स्थान पर नक्षत्र और चन्द्र योग होने पर भी प्रकाश डाला गया है। साथ ही किस-किस प्रधान नक्षत्र के साथ कितने अन्य तारों का सम्बन्ध है इस विषय की भी विवेचना है।

खगोल शास्त्र के अन्तर्गत स्थानाङ्ग के तीसरे स्थान में अल्पवृष्टि और अति वृष्टि के तीन कारण बताये गये हैं। उनमें से जलीय पुद्गलों (परमाणुओं) के अभाव व अधिकता वाला कारण तो विज्ञान सम्मत ही है। देव, भूत, नाग, यक्ष आदि की सम्यक् पूजा के होने या न होने के कारण जिससे अतिवृष्टि या अनावृष्टि होती है जो समाज की देव पूजा परायणता पर प्रकाश डालता है, हो सकता है इस पर वैदिक देववाद का भी प्रभाव हो। नवम स्थान में शुक्र ग्रह वीथी सूत्र में (वीथी अर्थात् परिभ्रमण) हय वीथी, गजवीथी, नागवीथी, वृषभवीथी, गोवीथी, उरगवीथी, अजवीथी, मृगवीथी और वैश्वानर वीथी ये नौ प्रकार की वीथियाँ बतायी हैं। ये नौ वीथियां क्या हैं, इनका क्या प्रभाव है, इसका वर्णन अध्ययन का विषय है। दसवें स्थान में कहा गया है कि कृतिका और अनुराधा ये दो नक्षत्र चन्द्र के सभी बाह्य मण्डलों में से दसवें मण्डल में परिभ्रमण करते हैं। यह चन्द्र कृतिका एवं अनुराधा नक्षत्र की माण्डलिक दूरी का वर्णन ज्योतिष शास्त्रियों के अन्वेषण का विषय है। इसी प्रकरण में ज्ञान वृद्धि करने वाले दस नक्षत्र मृगशिरा, आद्रा, पुष्य, तीनों पूर्वा,

मूला, अश्लेषा, हस्त और चित्रा बताये हैं। मुहूर्त्त चिन्तामणी में भी विद्यारम्भ के लिए इन्हीं नक्षत्रों को श्रेष्ठ माना है।

7. भौगोलिक महत्त्व–यह बात स्पष्ट है कि जैन भूगोल या प्राचीन भूगोल से आज का भूगोल मेल नहीं खाता, क्योंकि समय-समय पर भूगोलीय वातावरण, पृथ्वी की स्थिति और उस समय की स्थिति के बदलने से नदियों आदि में प्रवाह की भिन्नता हुई है। फिर भी स्थानाङ्गसूत्र भूगोल की शाश्वतता का शास्त्रीय वर्णन करता है। स्थानाङ्ग के छठे स्थान में क्षेत्र, पर्वत सूत्र में जम्बूद्वीप नामक द्वीप में छह अकर्म भूमियाँ-हेमवत, हिरण्यवत, हरिवर्ष, रम्यवर्ष, देवकुरू, उत्तरकुरू तथा छह क्षेत्र-भरत, ऐरावत, हेमवत, हैरण्यवत, हरिवर्ष और रम्यवर्ष आदि का वर्णन बताया है। इसके साथ-साथ छह वर्षधर पर्वतों का वर्णन क्षुद्र हिमवान, महाहिमवान, निषध, नीलवान, रूक्मी एवं शिखरी का वर्णन किया है तथा जम्बूद्वीप में मंदर पर्वत के दक्षिण भाग में छह महानदियाँ-गंगा, सिन्धु, रोहिता, रोहितांशा, हरित, हरिकांता का वर्णन आया है। इसी के उत्तर भाग में नरकान्ता, नारीकान्ता, सुवर्णकुला, रूप्यकुला, रक्ता एवं रक्तवती का वर्णन आया है। इसी प्रकार घातकी खण्ड की छः अकर्म भूमियों का भी वर्णन है ये सभी भूगोलवेत्ताओं के खोज का विषय है।

तप्तजला, मत्तजला, उन्मत्तजला आदि नदियां भी खोज का विषय है क्योंकि हिमालय के हिमाच्छादित प्रदेशों में अभी भी ऐसे तप्त जल के स्रोत हैं जिनका जल तप्तजला नदियों के रूप में प्रवाहित होता है। गंगोत्री के पास ऐसा स्रोत है जहाँ चावल उबाले जाते हैं। आधुनिक शेषधारा जैसी चट्टानों से टकराकर उछलने वाले जल से पूरित नदियों में से तब कोई मत्तजला और उन्मत्तजला रही होंगी। क्षीरोदा (जिसका जल दूध जैसा दिखाई दे), शीतस्रोता और अन्तर्वाहिनी (बर्फ के या चट्टानों के नीचे बहने वाली अनेक नदियाँ), मेरु (सम्भवतः गोरीशंकर पर्वत) के आसपास देखी जा सकती हैं।

इसी प्रकार इस विषय के अन्तर्गत भूकम्प के कारणों आदि की विवेचना एवं घनवात, घनोदधि आदि पर अवलम्बित पृथ्वी का वर्णन भूगोलीय अन्वेषणों की मूलावृत्ति प्रस्तुत करते हैं।

8. भौतिक विज्ञान का महत्त्व–शब्द भी पुद्गलात्मक है अर्थात् शब्द के

भी परमाणु होते हैं। आज तक यह सिद्धान्त शब्द शास्त्रियों को स्वीकार्य नहीं था लेकिन भौतिक विज्ञान ने शब्द परमाणु को सिद्ध कर दिया है। शब्द की परिभाषा करते हुए जैन सिद्धान्त दीपिका में कहा गया है 'संहन्यमानानां मिद्यमानानां ध्वनिरूप: परिणाम शब्द:' अर्थात् टूटते हुये स्कन्धों का ध्वनि रूप परिणाम शब्द है जो दो प्रकार से स्पष्ट है वह है भाषात्मक (अर्थ प्रतिपादक) और अभाषात्मक (तत, वितत, घन, शुषिर आदि)। स्थानाङ्ग में द्वितीय स्थान के तृतीय उद्देशक में शब्द के भाषा एवं नौ भाषा (अभाषात्मक) दो भेद बताये हैं तथा शब्द के पुन: अक्षर सम्बद्ध और नौ अक्षर सम्बद्ध आदि भेद बताये हैं। शब्दोत्पत्ति के दो कारण बताये हैं, पुद्गलों के परस्पर मिलने से और पुद्गलों के परस्पर भेद से। पुद्गल भेद शब्द ही परमाणुओं की और संकेत कर रहा है। परमाणु विज्ञान पर जैन संस्कृति ने जो कुछ कहा है वह आधुनिक भौतिक विज्ञान की कसौटी पर खरा उतर रहा है।

9. काव्य, नाट्य एवं सुरों का महत्त्व–स्थानाङ्ग के चौथे स्थान में चार प्रकार के वाद्यों का तत (वीणा आदि), वितत (ढोल, तबला), घन (घुंघरू, कांस, ताल आदि), शुषिर (बाँसुरी) तथा चार प्रकार के नाट्य (नृत्य) ठहर–ठहर कर नाचना, संगीत के साथ नाचना, संकेतों के द्वारा भाव प्रकट करते हुये नाचना और झुक कर या लेट कर नाचना आदि का वर्णन बताया है। इसी प्रकार चार प्रकार के गायन बताये हैं– नृत्य गायन, अवरोहपूर्वक गायन, आरोहपूर्वक गायन, छन्द गायन। इसी प्रकार से चार प्रकार की पुष्प रचना, चार प्रकार के शारीरिक अलंकार, चार प्रकार के अभिनय आदि का वर्णन स्थानाङ्ग में आया है।

गद्य, पद्य, कथ्य (कथा–कहानी) और गेय रूप में चार प्रकार के काव्यों का भेद तथा दसवें स्थान में दस प्रकार के शुद्ध वाक्यों के प्रयोग आदि रूप में वर्ण्य विषय में काव्य जगत को ही स्पर्श किया है, जिसे स्थानाङ्ग प्रमाणित करता है। सप्त स्थान में सप्त सुरों के वर्णन से स्पष्ट होता है कि प्राचीन काल में संगीत विज्ञान का कितना महत्त्व था। इसमें श्रेष्ठता के आधार पर व्यक्ति का मूल्यांकन किया है। इस प्रकार 'स्वर मण्डल सूत्र' में सात प्रकार के सुरों का वर्णन भी किया है जो षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पंचम, धैवत, निषाद आदि से जाना जाता है।

इस प्रकार स्थानाङ्गसूत्र को शास्त्रकारों ने जीवन की महत्ता के लिए सर्वांगीण दृष्टि से महत्त्वपूर्ण बताया है, जिसका सीधा सम्बन्ध हमारे जीवन से जुड़ा है।

स्थानाङ्गसूत्र में श्रमणोपासक

श्री जितेश कुमार जैन, सुमेरगंजमण्डी

जैन दर्शन का मूल आधार तीर्थंकर भगवान की आदेय अनुपम वाणी है। वर्तमान में बत्तीस आगमों में ग्यारह अङ्ग शास्त्र हैं, जिनमें स्थानाङ्गसूत्र का तृतीय स्थान है। इसमें एक स्थान से लेकर दस स्थान तक जीव और पुद्गल के विविध भाव वर्णित हैं। इसके अन्तर्गत स्थान 4 उद्देशक 3 में चार प्रकार के श्रमणोपासक बतलाये हैं–**चत्तारि समणोवासगा पण्णत्ता, तं जहा–अम्मापिइसमाणे, भाइसमाणे, मित्तसमाणे, सवत्तिसमाणे। चत्तारि समणोवासगा पण्णत्ता, तं जहा–अद्दागसमाणे, पडागसमाणे, खाणुसमाणे, खरकंटयसमाणे।**

यहाँ अलग-अलग चार प्रकार के श्रमणोपासकों का उल्लेख किया गया है। श्रमण-निर्ग्रंथ साधु-साध्वियों की उपासना-आराधना करने वाले गृहस्थ श्रावकों को श्रमणोपासक (श्रावक) कहते हैं। प्रथम चार प्रकार के श्रमणोपासकों का वर्णन निम्नलिखित है-

1. माता-पिता के समान–जिन श्रमणोपासकों में श्रमणों के प्रति अत्यन्त स्नेह, वात्सल्य और श्रद्धा का भाव निरन्तर प्रवाहमान रहता है उनकी तुलना माता-पिता से की गई है। जैसे माता-पिता सदैव अपनी सन्तान का हित चाहते हैं, यदि कोई अयोग्य या गलत प्रवृत्ति में लग जाये तो उसे सतर्क करके हितकारी प्रवृत्ति में अग्रसर करते हैं, वैसे ही श्रावक-श्राविका साधु-साध्वी के महाव्रतों का निर्मलता पूर्वक पालन करने में सहायक होते हैं। यदि साधु-साध्वी कोई विपरीत कार्य करें तो वे उन्हें रोककर महाव्रत निर्मल रखने में सहायक बनते हैं। इसके लिये कुछ कठोर व्यवहार भी करना पड़े तो करते हैं, परन्तु मन में किसी प्रकार का द्वेष भाव नहीं रखते। इस प्रकार संयम में उपकारी और सहायक श्रावक-श्राविका माता-पिता के समान कहलाते हैं।

2. भाई के समान–जिन श्रमणोपासकों में श्रमणों के प्रति अवसर के अनुसार

कभी वात्सल्य और कभी उग्रभाव दोनों होते हैं, उनकी तुलना भाई से की गई है। वे तत्त्व-विचार आदि के समय कदाचित् उग्रता प्रकट कर देते हैं, किन्तु शेष समय में उनका हृदय वात्सल्य से परिपूर्ण रहता है। जैसे संसार मे भाई-भाई के बीच कभी किसी प्रसंग विशेष को लेकर कहासुनी हो जाती है, परन्तु शेष समय में उनके बीच परस्पर वात्सल्य बना रहता है।

3. मित्र के समान-जिन श्रमणोपासकों में श्रमणों के प्रति कारणवश प्रीति और कारण विशेष से अप्रीति दोनों पाई जाती है, उनकी तुलना मित्र से की गई है। यदा-कदा साधुओं से जिनकी प्रीति का नाश हो जाता है, परन्तु प्रीति का नाश हो जाने पर भी आपत्ति में उपेक्षा नहीं करने वाले श्रावक मित्र के समान हैं। मित्र की तरह दोषों को ढ़ँकने और गुणों का प्रकाश करने वाले श्रावक-श्राविका मित्र के समान होते हैं।

4. सपत्नी (सौत) के समान-जो केवल नाम से ही श्रमणोपासक कहलाते हैं, किन्तु जिनके भीतर श्रमणों के प्रति वत्सलता, भक्तिभाव नहीं होता, अपितु जो छिद्रान्वेषण ही करते रहते हैं, उनकी तुलना सपत्नी (सौत) से की गई है। ऐसे श्रावक-श्राविका सदैव साधु-साध्वियों में दोष देखने वाले और उनका अपकार करने वाले होते हैं।

इस प्रकार श्रद्धा भक्ति-भाव और वात्सल्य की हीनाधिकता के आधार पर श्रमणोपासक चार प्रकार के कहे गये हैं।

पुनः श्रमणोपासक चार प्रकार के कहे गये हैं, जिनका विवरण निम्नलिखित है-

1. आदर्श समान श्रावक-जो श्रावक दर्पण के समान निर्मल चित्त वाला होता है और साधु-साध्वियों के द्वारा उपदिष्ट उत्सर्ग, अपवाद आदि आगम सम्बन्धी भावों को यथावत् ग्रहण कर लेता है, वह आदर्श (दर्पण) समान श्रावक है।

2. पताका समान श्रावक-जैसे एक पताका वायु के वेग से प्रभावित होती है अर्थात् जिस दिशा में वायु चलती है, उसी दिशा में पताका फहराने लगती है। उसी प्रकार विभिन्न प्रकार की देशना रूप वायु से प्रेरित होने के कारण जो एक निश्चित

तत्त्व पर स्थिर नहीं रह पाता, उसे पताका के समान कहा गया है। इस कोटि के श्रावक जैसी देशना सुनते हैं उसी की तरफ झुक जाते हैं सरल भाषा में कहें तो ये गिरगिट की तरह रंग बदलते रहते हैं।

3. स्थाणु (ठूंठ) समान श्रावक–जो श्रावक स्थाणु (सूखे वृक्ष के ठूंठ) के समान विनम्र-स्वभाव से रहित होता है तथा गीतार्थ आदि की देशना को सुनकर या साधु-साध्वी द्वारा समझाये जाने पर भी अपने दुराग्रह को नहीं छोड़ता है, वह स्थाणु-समान कहा गया है।

4. खर कण्टक समान श्रावक–जो श्रावक किसी के समझाये जाने पर भी अपने दुराग्रह को नहीं छोड़ता, अपितु समझाने वाले को कठोर वचनों द्वारा अपमानित कर कष्ट पँहुचाता है, वह खर कण्टक समान श्रावक कहलाता है। जैसे बबूल आदि का काँटा उसमे फँसे हुए वस्त्र को तो फाड़ता ही है और साथ ही छुड़ाने वाले व्यक्ति के हाथों में चुभकर उसे कष्ट प्रदान करता है वैसे ही इस कोटि के श्रावक भी अपने हितैषी लोगों को कटु शब्द-बाणों से घायल कर देते हैं।

इस प्रकार चित्त की निर्मलता, अस्थिरता, अनम्रता और कठोरता की अपेक्षा से चार भेद कहे गए हैं। अतः हमें तीर्थंकर प्रभु द्वारा प्रतिपादित इन भेदों पर चिन्तन-मनन करके उच्च कोटि के श्रमणोपसक बनने का सतत प्रयास करना चाहिए।

स्वाध्यायियों और लेखकों से निवेदन...

विद्वान् विचारक, लेखक एवं स्वाध्यायी पाठकों की ज्ञानवृद्धि करने वाली, सम्यक् आचार की प्रेरणा देने वाली रोचक एवं प्रामाणिक रचनाएँ भेजेंगे तो हम उत्साहित होकर **'स्वाध्याय शिक्षा'** का स्वरूप निरन्तर निखारते-सँवारते रहेंगे।

आगामी अङ्क **'आगम अनुप्रेक्षा-समवायाङ्गसूत्र'** से सम्बन्धित सामग्री से परिपूर्ण होगा। इस हेतु आपके लेख हमें प्रेषित करने की कृपा करावें, यही विनम्र अनुरोध है। **-सम्पादक**

बनें बहुश्रुत स्वाध्यायी-(22)

इस अङ्क में से 10 प्रश्न पूछे जा रहे हैं, जिनके उत्तर आप **15 मार्च, 2022 तक सम्पादकीय सम्पर्क सूत्र के पते** पर प्रेषित करें। श्रेष्ठ उत्तरदाताओं में से लॉटरी द्वारा पाँच उत्तरदाताओं का चयन करके प्रत्येक को रुपये **200/-** के सम्मान पुरस्कार प्रदान किये जायेंगे। आवश्यक हो उतना ही उत्तर दें अन्यथा अंक काटे जायेंगे। -सम्पादक

1. किससे जीवन निष्पाप व निर्मल बनता जाता है ?
2. जिसका स्वरूप स्थापित किया जाता है, ज्ञापित किया जाता है, वह क्या है ?
3. आत्मा का एक विशिष्ट गुण एवं स्वभाव क्या है ?
4. सभी वैभव होने के बाद भी किसकी आवश्यकता रहती है ?
5. व्यक्ति, समाज और देश की उन्नति का मुख्य आधार क्या है ?
6. किसका भाव धार्मिकता का पहचान पत्र है ?
7. कौन जीवन में विषाद उत्पन्न करता है ?
8. संसार का भौतिक प्रवाह क्या है ?
9. जो साधक होता है, वह सर्वप्रथम किसको देखता है ?
10. वैदिक साहित्य में प्रमुख ग्रन्थों को क्या कहा है ?

बनें बहुश्रुत स्वाध्यायी (20) के लॉटरी से चयनित श्रेष्ठ पाँच उत्तरदाता

सभी उत्तरदाता अपने बैंक खाते का विवरण मय आईएफसी कोड सहित उत्तरपत्र के साथ अवश्य भेजे। जिससे राशि आपके खाते में प्रेषित की जा सके।

(1) श्री रितेशजी रमेशचन्दजी सुराणा, जलगाँव (महा.)
(2) श्री गणपतलालजी जैन, बजरिया, सवाई माधोपुर (राज.)
(3) श्री इन्द्रसिंहजी कोठारी, भीलवाड़ा (राज.)
(4) श्री यशराजजी जैन, हिण्डौन सिटी (राज.)
(5) श्री रिंकूजी जैन, नीमच (म.प्र.)

उत्तरमाला (20)-(1) कामभोगों को (2) दु:ख (3) भावी आचार्य श्री महेन्द्रमुनिजी म.सा. (4) जन्म-मरण (5) आगम (6) संयम (7) सर्व विमोक्ष (8) हिंसा (9) पुद्गल (10) दोष।

श्री स्थानकवासी जैन स्वाध्याय संघ, जोधपुर हेतु साभार

51000/- डॉ. पदमचन्दजी मुणोत, जयपुर, शिक्षा निधि स्तम्भ सदस्य हेतु।

50000/- श्री पारसमलजी चोरडिया, उज्जैन, स्वाध्याय संघ हेतु।

21000/- श्री मुकेशजी, कनकमलजी चोरडिया, पारोला, स्वाध्याय निधि पोषक सदस्यता हेतु।

7000/- श्री देवराजजी नाहर, चांगोटोला।

3000/- श्रीमती प्रेमबाईजी भण्डारी। सहयोग हेतु।

2100/- ओसवाल समाज, दूनी, पर्युषण सहयोग हेतु।

2100/- श्री महेन्द्रजी कुम्भट, मुम्बई। सहयोग हेतु।

2000/- श्री देवेन्द्रनाथजी मोदी, जोधपुर। वार्षिक सदस्यता हेतु।

2000/- श्रीमती प्रेमबाईजी भण्डारी, जोधपुर। वार्षिक सदस्यता हेतु।

2000/- श्री तुषार प्रकाशचन्दजी संकलेचा, पुणे। वार्षिक सदस्यता हेतु।

2000/- श्रीमती मोहनकौरजी जैन, जोधपुर। वार्षिक सदस्यता हेतु।

2000/- श्री राजाबाबूजी सौरभजी चौपड़ा। वार्षिक सदस्यता हेतु।

1100/- श्री नरेन्द्रमोहनजी, सुरेशचन्दजी, अनोखचन्दजी, महावीरचन्दजी (श्यामपुरा वाले), सवाईमाधोपुर/कोटा/जलगाँव, अपने पूज्य पिताजी श्री राजूलालजी सुपुत्र स्व. श्री भुरालालजी जैन का 12 नवम्बर, 2021 को स्वर्गवास हो जाने पर उनकी पावन-स्मृति में।

1100/- श्री महावीर प्रसादजी जैन, जयपुर, अपनी सुपुत्री मानसी के शुभविवाह के अवसर पर।

1100/- श्री राजेन्द्रजी, सुरेन्द्रजी, बुद्धिप्रकाशजी, मनोजजी बाबई वाले, कोटा। चि. अंशुल का शुभ विवाह सौ. आकृति जैन अलीगढ़ के साथ सम्पन्न होने के अवसर पर।

1100/- श्री राकेशजी जैन चौरू वाले, जयपुर। अपने पूज्य पिताजी वीरभ्राता श्री राधेश्यामजी जैन का 17 नवम्बर, 2021 को देवलोकगमन होने पर उनकी पावन स्मृति में।

1100/- श्री केवलचन्दजी, कमलकुमारजी जैन, सवाईमाधोपुर। चि. अर्पित का शुभ विवाह सौ. एकता सुपुत्री श्री जम्बुकुमारजी जैन, जयपुर के साथ दिनांक 15.11.2021 को सम्पन्न होने के अवसर पर।

1100/- श्री नरेन्द्रजी अभिनन्दनजी चकेरी वाले, आवासन मण्डल, सवाईमाधोपुर। अपने पूज्य पिताजी श्री फूलचन्दजी जैन की पावन स्मृति में।

500/- श्री अनिलजी गुप्ता, जयपुर। सहयोग हेतु।

श्री स्थानकवासी जैन स्वाध्याय संघ के विविध सेवा-सोपान

- पर्युषण सेवा
- स्वाध्याय शिक्षा (द्वैमासिक) का प्रकाशन
- प्रचार-प्रसार कार्यक्रम
- नये स्वाध्यायी तैयार करना
- समय - समय पर शिविर आयोजित करना
- स्वाध्यायियों को प्रशिक्षित करना।
- निर्व्यसनी सामायिक कार्यक्रम

BOOK PACKETS CONTAINING PERIODICALS Value of Periodical
From Rs. 1/- to Rs. 20/- For First 100 gms or part thereof Rs. 2/-

To,

If undelivered, please return to

श्री स्थानकवासी जैन स्वाध्याय संघ
(संचालक-गजेन्द्र निधि)
सामायिक स्वाध्याय भवन, प्लॉट नं. 2,
नेहरू पार्क, जोधपुर-342001 (राज.)
फोन 0291-2624891

स्वामी - श्री स्थानकवासी जैन स्वाध्याय संघ, जोधपुर
मुद्रक - डायमण्ड प्रिंटिंग प्रेस, जयपुर
प्रकाशक - सुभाष हुण्डीवाल, जोधपुर से प्रकाशित
सम्पादक - प्रकाशचन्द जैन